सहजानंद शास्त्रमाला

समयसार-महिमा

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ‘‘सहजानन्द’’ महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

समयसार-महिमा

लेखक—
अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक
नरेशचन्द जैन, एम० ए०, सदर, मेरठ

प्रकाशक :
मंत्री, सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

सन् १९८६] [मूल्य—एक रुपया

समयसार-महिमा

सभी जीव शाश्वत शान्ति चाहते हैं और एतदर्थं ही भरसक प्रयत्न करते हैं। जो जीव विषय भोगों में ही आनन्द मानते हैं और विषय भोगों के बाधक निमित्तों से द्वेष एवं कलह करके शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उन जीवों की तो इसमें चर्चा ही नहीं करनी है। जो अलौकिक उपायों से शान्ति का मार्ग ढूंढते हैं, उनकी ही कुछ चर्चाओं के बाद परिणामस्वरूप हितकर प्रकृत बात पर आना है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि:—जिस परम ब्रह्म परमेश्वर ने अपनी सृष्टि की है उस परम पिता परमात्मा की उपासना से ही दुःखों की मुक्ति हो सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि :—प्रकृति और पुरुष में एकत्व का अभ्यास होने से ही क्लेश एवं जन्म-परम्परा हुई है, सो प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान कर लेने से ही क्लेश एवं जन्म-परम्परा से मुक्ति मिल सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि:—क्षणिक चित्त वृत्तियों में जो आत्मा मानने का भ्रम है, इस आत्मभ्रम से सारा क्लेश है, सो आत्मा का भ्रम समाप्त कर देने से ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि:— आत्मा तो शाश्वत निर्विकार है। उसमें विकार का जब तक भ्रम है तब तक जीव दुःखी है, विकार का भ्रम समाप्त होने से ही जीव शान्ति प्राप्त कर सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि:—दुष्कर्मों से ही जीव सांसारिक यातनाएं सहता है, और यातनाओं से मुक्ति पाना सत्कर्म करने से ही सम्भव है।

और, कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि:—विकल्पात्मक विविध उपयोगों से ही जीव का संसार परिभ्रमण चल रहा है। इस भवभ्रमण की निवृत्ति निर्विकल्प समाधि से हो सकती है।

इत्यादि प्रज्ञापूर्ण अनेक धारणाएँ हैं। इनमें से किसी भी धारणा को असत्य नहीं कहा जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता कि इनमें कोई भी धारणा किसी दूसरे के विरुद्ध है। इन सब धारणाओं का जो लक्ष्य है वह सब है एक "समयसार"।

एक समयसार के यथार्थ परिज्ञान में उक्त समस्त उपाय गर्भित हैं। एक समयसार के परिज्ञान से उक्त सब उपाय कैसे प्रचलित हो जाते हैं। यह बात अभिधेय समयसार के यत्किंचित् अभिधान के पश्चात् कहीं तो विशद् उक्तियों में और कहीं फलितार्थ रूप में प्रकट हो ही जावेंगी। अतः अन्य कोई विस्तृत विवेचन न करके अब समयसार के सम्बन्ध में ही संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है।

समय का अर्थ

समय शब्द के दो अर्थ हैं—१. समस्त पदार्थ २. आत्मा। इनमें अर्थात् समस्त पदार्थों में अथवा आत्मा में जो सार हो वह समयसार कहलाता है। 'सम्-एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छति' इस निरुक्ति से समय शब्द का अर्थ समस्त पदार्थों में घटित होता है, क्योंकि सभी पदार्थ अपने अपने ही गुण पर्यायों को प्राप्त हैं। 'सम्—एकत्वेन युगपत् अयते गच्छति जानाति' इस निरुक्ति से समय शब्द का अर्थ आत्मा होता है, क्योंकि आत्मा पदार्थ ही जानने वाला है और उसका स्वभाव सर्व पदार्थों को एकत्वरूप अर्थात् केवल उसका सत्तात्मक बोध एक साथ जानने का है।

अब सब पदार्थों में सार कहो तो वह आत्मा नाम का पदार्थ है और उसमें भी निरपेक्ष, शाश्वत, सहज, एक स्वरूप-आत्म-स्वभाव (चैतन्य स्वभाव) की दृष्टि से दृष्ट आत्म-तत्त्व सार है। इसी प्रकार दूसरी निरुक्ति से भी यही समयसार वाच्य है। समयसार के अपर नाम—ब्रह्म, परम-ब्रह्म, परमेश्वर,

कारण परमात्मा, जगत्-पिता, शुद्धचेतन, परम-पारिणामिक भाव, शुद्धचेतना, सर्व विशुद्ध, चिन्मात्र, चैतन्य, प्रभु, विभु, अद्वैत, विष्णु, ब्रह्मा, परमज्योति और शिव इत्यादि अनेक हैं।

यह समयसार अजर, अविकार, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, अपरिणामी, ध्रुव, अचल, एक-ज्ञायक-अनंतरसनिर्भर, सहजानन्दमय, चिन्मात्र, सहजसिद्ध, अकलंक, सर्वविशुद्ध, ज्ञानमात्र, सच्चिदानन्द स्वरूप इत्यादि अनेक द्वार से संवेद्य है।

वस्तु व्यवस्था

समयसार के विशद परिज्ञान का उपाय भेद-विज्ञान है। अनेक पदार्थों को स्व-स्व लक्षणों से पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उनमें से उपादेय पदार्थ को लक्षित और उससे अन्य समस्त पदार्थों को उपेक्षित कर देने को भेद विज्ञान कहते हैं। प्रकृत भेद-विज्ञान के लिए आत्म-अनात्मस्वरूप समस्त पदार्थों का जान लेना प्रथम आवश्यक है। इस जानकारी के लिए समस्त पदार्थ कितने हैं, यह जानना आवश्यक है। इस जानकारी के लिए आखिर एक पदार्थ होता कितना है यह भी जानना आवश्यक है।

एक परिणमन जितने पूरे में होना ही पड़े और जितने से बाहर त्रिकाल में भी कभी न हो सके, उतने को एक पदार्थ कहते हैं। जैसे—विचार, सुख-दुख, अनुभव आदि कोई परिणमन मेरा, केवल मेरी आत्मा में, वह भी समस्त प्रदेशों में होता है और मेरे आत्म प्रदेशों से बाहर अन्यत्र कभी नहीं हो सकता इसलिए यह मैं आत्मा एक पदार्थ हूँ। इसी प्रकार सब आत्मा हैं। इस तरह विश्व में अक्षय अनन्तानन्त आत्मा हैं। दृश्यमान स्कन्धों में जो कुछ दीखता है वह एक-एक नहीं है, क्योंकि जलने से या अन्य हेतुओं से या समय व्यतीत होने से उस एक पिण्ड में एक जगह तो रूप-परिवर्तन और तरह देखा जाता है; किन्तु वह परिवर्तन सर्वत्र नहीं होता। इसी प्रकार रस, गन्ध, स्पर्श में भी विविधता देखी जाती है। एक पदार्थ का जो लक्षण है उसके अनुसार यह

निर्णीत होता है कि इन पिण्डों में एक-एक परमाणु करके अनन्त परमाणु हैं और वे एक-एक द्रव्य हैं। क्यों वे एक-एक द्रव्य हैं ? क्योंकि एक पदार्थ का लक्षण इनमें घटित हो जाता है। इस तरह जब द्रव्यमान छोटे से पिण्ड में अनन्त परमाणु हैं, तब समस्त विश्व में तो अक्षय अनन्तानन्त परमाणु हैं। यह सुप्रसिद्ध बात है। इन परमाणुओं को पुदगल कहते हैं; क्योंकि इनमें पूर-पूर कर एक पिण्ड होने की व गल-गलकर पुन: बिखरने की योग्यता है। अनन्तानन्त जीव व अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्यों के चलने में जो उदासीन, सहायक द्रव्य है, वह धर्मद्रव्य है और वह भी एक है। अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य से चलकर ठहरने में जो उदासीन सहायक द्रव्य है वह अधर्मद्रव्य है वह भी एक है। समस्त जीव व पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा जो समस्त द्रव्यों के अवगाह का उदासीन हेतु है ऐसा आकाश एक द्रव्य है। इन सबके परिणमन का जो उदासीन हेतु रूप है वह कालद्रव्य है। कालद्रव्य असंख्यात हैं। वे लोकाकाश (जितने आकाश में सब द्रव्य हैं) के एक एक प्रदेश पर एक-एक स्थित हैं। आकाश द्रव्य एक है। इस प्रकार अनन्तानन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्गल एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य व असंख्यातकाल द्रव्य ऐसे अनन्तानन्त पदार्थ हैं।

समयसार परिज्ञान के लिए अब अनन्तानन्त पदार्थों में से एक आत्मा स्व के रूप में और अवशिष्ट अन्य अनन्तानन्त आत्मा, अनन्ततानन्त पुद्गल एक धम द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्यात काल द्रव्य इन सबको पर के रूप में जानना चाहिए। इसके अनन्तर उस एक आत्मा में भी उन सभी गुण व सभी पर्यायों की दृष्टि गौण करके सनातन एक चैतन्य स्वभाव की दृष्टि करनी चाहिए।

आवश्यक व ज्ञातव्य दृष्टियां

समयसार के परिज्ञान के लिए समयसार व समयसार से भिन्न समस्त परभाव का जानना आवश्यक है और आवश्यक है उन समस्त परभावों से

हटकर एक समयसार का ही उपयोग करना। एतदर्थ वह सब परिज्ञान अनेक दृष्टियों से आवश्यक होता है। अत: संक्षेप में अनावश्यक दृष्टियों का वर्णन किया जाता है। इसके पश्चात् समयसार ग्रन्थ में वर्णित विषयों का संक्षेप सारांश प्रकट किया जायेगा। दृष्टि के अपर नाम नय, अभिप्राय, आशय, मत इत्यादि अनेक हैं। इनमें प्रसिद्ध शब्द नय है। नय के मुख्य भेद दो हैं—(१) निश्चयनय, (२) व्यवहारनय। एक पदार्थ के ही जानने को निश्चयनय कहते हैं। अनेक या अन्य के निमित्त से होने वाला कार्य व्यपदेश आदि के जानने को व्यवहारनय कहते हैं। चूंकि पदार्थों को केवल भी जाना जा सकता है, संयुक्त या सहयोगी भावों द्वारा भी जाना जा सकता है, इसलिये नयों की विविधता होना प्राकृतिक बात है।

अथवा पदार्थों को भेद रूप से जानने को व्यवहार कहते हैं और अभेद रूप से जानने को निश्चयनय कहते हैं। निश्चयनय एक व अभेद को जानता है, व्यवहारनय अनेक व भेद अथवा अनेक या भेद को जानता है। इस कारण कितने ही निश्चयनय उसके सामने अन्य अन्तरंग की दृष्टि प्राप्त होने पर व्यवहारनय हो जाते हैं और कितने ही व्यवहारनय उसके सामने अन्य अधिक बहिरंग की दृष्टि प्राप्त होने पर निश्चयनय हो जाते हैं। फिर भी माध्यम द्वारा नयों का संक्षिप्त विस्तार किया जाता है—

निश्चयनय के परमशुद्ध निश्चयनय, विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय आदि भेद हैं। व्यवहारनय के उपचरित असद्भूत व्यवहार, अनउपचरित असद्भूत व्यवहार, उपचरित सद्भूत व्यवहार और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार आदि भेद हैं।

परम शुद्ध निश्चयनय—परिणमन व शक्तिभेद (गुण) की दृष्टि गौण कर एक स्वभावमय पदार्थ को जानना परमशुद्ध निश्चयनय है, जैसे आत्मा चित् स्वरूप है। इसी नय का विषय समयसार है।

विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चयनय—उपादेय तत्त्व को शुद्ध निरखकर विकार

का उपाधि से सम्बन्ध जानने को विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चयनय कहते हैं; जैसे रागादि पौद्गलिक हैं। यह आशय अशुद्ध निश्चयनय की मुख्यता होने पर व्यवहारनय हो जाता है।

शुद्ध निश्चयनय—शुद्धपर्यायपरिणत पदार्थ के जानने को शुद्ध निश्चयनय कहते हैं जैसे सिद्ध प्रभु सिद्ध हैं।

अशुद्ध निश्चयनय—अशुद्धपर्यायपरिणत पदार्थ के जानने को अशुद्ध-निश्चयनय कहते हैं जैसे रागादिमान् संसारी जीव हैं।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनयः—अन्य उपाधि के निमित्त से होने वाले प्रकट परभाव को निमित्त से उपचरित करना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है जैसे—अनुभूत विकार भाव पुद्गल कर्म के कारण जीव में हुए हैं, ऐसा व्यपदेश करना।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय—अन्य उपाधि के निमित्त से होने वाले सूक्ष्म (अप्रकट) विकार को कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है, जैसे औपाधिक अबुद्धिगत जीव के विकार भाव।

उपचरित सद्भूत व्यवहारनय—उपाधि के क्षयोपशम से प्रकट होने वाले जीव के गुणों का विकास उपचरित सद्भूत व्यवहारनय हैं, जैसे जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय—जीव के निरपेक्ष अखण्ड स्वभाव-भाव को गुण-गुणी का भेद करके कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है, जैसे जीव के ज्ञानादि गुण।

इस प्रकार अन्तरंग से बहिरंग की ओर बहिरंग से अन्तरंग की ओर अभिप्रायों का आलोडन विलोडन करके समय (आत्मा) का सम्यक् प्रकार से निश्चय किया जाय और पश्चात् अनेक निश्चयनयों में से निकलकर परम शुद्ध निश्चयनय का अवलम्बन करके समयसार का परिज्ञान किया जावे और फिर परम शुद्ध निश्चयनय के आशय से भी सहज छूटकर समयसार का अनुभव किया जावे।

इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थ में (१) पीठिका, (२) जीवाधिकार, (३) अजीवाधिकार, (४) कर्तृ-कर्माधिकार, (५) पुण्य-पापाधिकार, (६) आस्रवाधिकार, (७) संवराधिकार, (८) निर्जराधिकार, (९) बंधाधिकार, (१०) मोक्षाधिकार, (११) सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार, (१२) चूलिकाधिकार, (१३) और स्याद्वादाधिकार। इन १३ अधिकारों में आत्मतत्त्व का वर्णन किया अद्यतन प्रसिद्धि के अनुसार पीठिका व जीवाधिकार का वर्णन एक धारा में होने के हेतु इन दो अधिकारों का एक पूर्व रंग हो जाने से व अजीवाधिकार में ही विधि-निषेध के रूप में जीव का वर्णन आ जाने के हेतु अजीवाधिकार हो जाने से, तथा सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार व चूलिकाधिकार का विषय भी एक धारा में चलने से एवं स्याद्वाद (परिशिष्ट) अधिकार समय प्राभृत ग्रन्थ के टीकाकार पूज्य श्री अमृतचन्द्रजी सूर की स्वतन्त्र रचना होवे से (१) पूर्वरंग, (२) जीवाजीवाधिकार, (३) कर्तृकर्माधिकार, (४) पुण्यपापाधिकार, (५) आस्रवाधिकार, (६) संवराधिकार, (७) निर्जराधिकार, (८) बंधाधिकार, (९) मोक्षाधिकार, (१०) सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार इस प्रकार १० अधिकार हैं।

समयसार का विभाग

समयसार आत्मतत्त्व की विवेचना का अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रंथ का प्राकृत भाषा में नाम "समयपाहुड" है, जिसका संस्कृतानुवाद है समयप्राभृत। प्राभृत का अर्थ भेंट भी होता है। जिससे यह ध्वनित हुआ कि समय अर्थात् शुद्ध आत्मत्त्व की जिज्ञासा करने वाले मुमुक्षु समयसार (कारणपरमात्मा या निर्दोषपरमात्मा) राजा के दर्शन करने के लिए उद्यम करे तो इस भेंट का (ग्रन्थका) उपयोग करें। यदि कोई यह जानना चाहे कि जैन सिद्धान्त में वर्तमानसर्व प्रमुख व्यवहारोपयोगी ग्रन्थ कौन है तो यह निःशंक कहा जा सकता है कि एक समयसार और दूसरा तत्त्वार्थ-सूत्र। समयसार में अध्यात्म विषयक सुविवेचना है और तत्त्वार्थ सूत्र में पदार्थ की विविध विषयक सुवि-वेचना है।

समयसार ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय विस्तृत है। अतः इसके मूलकर्ता (गाथाकार पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य) की रचना इस प्रकार हुई है— प्रारम्भ की १२ गाथा तो समयसार की पीठिका हैं। पश्चात् मुख्य विषय जीव के स्वरूप का है सो जीवाधिकार आया। पश्चात् जीव-अजीव के बन्धन के मूल कारण का अर्थात् कर्तृ-कर्म भाव का अधिकार आया। पश्चात् कर्तृ-कर्म भाव के परिणाम-स्वरूप अथवा संसार के प्रधान एक भाव निमित्तभूत पुण्य-पापकर्म का अधिकार आया। पश्चात् पुण्यपापकर्म के द्वारभूत आस्रव का अधिकार आया। इसके पश्चात् आस्रव के विपक्षी अथवा मुक्ति के मूल उपायभूत संवर का अधिकार आया। पश्चात् मोक्ष के विपक्षभूत बंध का अधिकार आया। पश्चात् मोक्ष का अधिकार आया। पश्चात् मुक्ति के सर्व उपायों के लक्ष्यभूत समयसार का विशुद्ध वर्णन करने के लिए सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार आया। अन्त में इसी तत्त्व का तथा पूर्व में उक्त व अनुक्त विषयों का उपसंहार करने वाला परिशिष्ट रूप स्याद्वाद अधिकार आया।

अब समयसार ग्रन्थ के उक्त अधिकारों में किस-किस विषय का वर्णन है, इस पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है ताकि यह भी सुगमता से जानने में आ सके कि भाव से की गई अनेक ऋषियों की पूर्वोक्त विभिन्न आध्यात्मिक धारणाओं का लक्ष्य भी यही समयसार है, चाहे उनमें से किसी ने उस पर लक्ष्य कर पाया हो या न कर पाया हो।

पीठिका

सर्वप्रथम समयसार के पूर्ण अनुरूप विकास अर्थात् सिद्ध प्रभु को नमस्कार करके समय (सामान्य आत्मा) का इस प्रकार संकेत किया है कि समय की दो अवस्थायें होती हैं (१) स्वसमय (शुद्धावस्था) (२) परसमय (अशुद्धावस्था)। जो अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हो, अर्थात् शुद्ध ज्ञान दर्शनमय निज परमात्मतत्त्व की रुचि, संवित्ति व निश्चल अनुभूति से परिणत हो, सो स्वसमय है और जो औपाधिक भावों में स्थित हो, सो परसमय है।

ये दोनों अवस्थायें जिस एक पदार्थ की हैं वह समय है। अन्य सर्व परपदार्थों से भिन्न देखा गया, केवल यही समय समयसार कहलाता है।

संसारी जीवों ने इस समयसार की दृष्टि नहीं की। इसी कारण इस जीव लोक में आपत्तियों का भाजन होना पड़ा है। इस समयसार का वर्णन करने के पहले ग्रंथ कर्त्ता श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं कि इस समयसार (एकत्व विभक्त आत्मा) को आत्मविभव द्वारा दिखाऊंगा। यदि दिखा दूं तो स्वयं अपने विभव से प्रमाण करना। यदि दिखाने में चूक जाऊं तो छल ग्रहण नहीं करना। दिखाना शब्दों द्वारा ही हो रहा है, यह क्रिया नय-गर्भित है अतः सुनने में नय का ठीक उपयोग न करने से श्रोता का चूकना सम्भव है। इस ही बात को अपना लेने से ग्रन्थकर्त्ता की कितनी निर्गर्वता प्रकट हुई है और स्वयं अनुभव से प्रमाण करना चाहिये इस भाव द्वारा वस्तु-स्वातंत्र्य की प्रतीति प्रकट हुई है, इससे सहसा विवेच्य विषय पर श्रद्धा होती है तथा मनन कर लेने से तो दृढ़ प्रतीति हो ही जावेगी क्योंकि इस विवेचना में सब वैज्ञानिक पद्धति है।

समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व का लक्ष्य इस प्रकार किया गया है, कि जो न प्रमत्त या कषायसहित और न अप्रमत्त या कषायरहित है, किन्तु एक शुद्ध ज्ञायक-भावमय है, वह शुद्ध आत्मा है। इस शुद्ध आत्मा में बन्ध की कथा दूर ही रहे इसमें ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदिक गुणभेद भी नहीं हैं। फिर भी बुद्धि में गुणभेद आदि किए बिना परमार्थभूत आत्मा को समझाया नहीं जा सकता। इसलिए गुणभेद आदि निरूपक व्यवहार परमार्थ के प्रतिपादक होने से वक्तव्य होता है और यह व्यवहार भी पहिली पदवी में प्रयोजनवान है, किन्तु परमार्थभूत चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व के अवलोकन करने वालों को व्यवहार प्रयोजनवान् नहीं है।

अधिकार गाथा

उक्त प्रकार से एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा अथवा समयसारका संक्षेप में

वर्णन किया गया है, उसी को विस्तृत रूप में कहने के लिए एक अधिकार गाथा ग्रंथकर्ता ने दी है।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसव संवर णिज्वर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥

भूतार्थनय से जाने गए जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा बंध और मोक्ष सम्यक्त्व हैं। यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके सम्यक्त्व का वर्णन किया है, जिससे यह भाव निकला कि भूतार्थनय से जाने गए जीवादि नवतत्त्व सम्यक्त्व के कारण हैं। गुण पर्यायों के भेद से उठाकर एकत्व में ले जाने वाले नय को भूतार्थनय कहते हैं। इस गाथा में अधिकार सूची भी आ गई। आध्यात्मिक ग्रंथों में अनावश्यक कर्तव्य होने से कर्तृ-कर्माधिकार व सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार और कहना पड़ा। चूलिका तो प्रायः सर्वत्र आपतित होती है।

उक्त नव तत्त्वों में जीव व अजीव तो द्रव्य हैं व पुण्य पाप, आस्रव आदि पर्यायें हैं। इसी कारण ये सातों जीवरूप भी कहे गए हैं और अजीवरूप भी कहे गए हैं। जैसे जीव पुण्य, अजीव पुण्य आदि। जीव की परिणतियाँ जीव पुण्य आदि हैं व अजीव (कर्म) की परिणतियाँ अजीव पुण्य आदि हैं? जीव परिणतियों के द्वार से चलकर उन परिणतियों के स्रोतभूत गुण पर आना और गुणद्वार से चलकर गुणों के अभेद पुञ्ज अथवा गुणों के स्रोतभूत जीवद्रव्य पर आना यह भूतार्थनय की पद्धति है। इसी प्रकार अजीव में भी लगानी चाहिये। यह सर्व विषय ग्रन्थ के अध्ययन से स्फुट करना चाहिये। यहाँ तो विषय का दिग्मात्र ही दिखाना है।

जीवाधिकार

जीवाधिकार में सर्वप्रथम ही शुद्ध आत्मा के स्वरूप, स्वामी व उपाय का ही एकदम सुगम रीति से वर्णन कर दिया है, कि जो अपनी आत्मा को (अपने आप को) अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशिष्ट व असंयुक्त देखता

है उसे शुद्ध नय जानो, अथवा शुद्ध-नय से जैसा शुद्ध आत्मतत्व देखा जाता है आत्मतत्व वैसा ही शुद्ध जानो। यही जिन शासन का सार है।

इस शुद्ध आत्मा श्रद्धान ज्ञान व आचरण करना चाहिए। वस्तुतः श्रद्धान-ज्ञान-आचरण भी आत्मा ही है। यद्यपि यह आत्मा स्वभाव से ही ज्ञानमय है किन्तु इसकी निज तत्त्व पर दृष्टि नहीं हुई, अतः इसकी उपासना का आदेश दिया गया है।

समयसार का परिचय न होने से जीव की दृष्टि कर्म, शरीर व विभाव में "वह मैं है या ये मेरे हैं" ऐसी मान्यता की हो जाती है, और जब तक ऐसी दृष्टि रहती है तब तक यह जीव अज्ञानी रहता है। इतना ही नहीं अज्ञानी जीव के भूत, भविष्यत् का भी परिग्रह लगा रहता है। अज्ञानी से यह धारणा रहती है कि शरीरादिक मैं हूँ, ये मेरे हैं, मैं इनका हूं, ये मेरे थे, मैं इनका था, ये मेरे होंगे, मैं इनका होऊंगा इत्यादि।

परन्तु शरीरादिक अजीव पदार्थ व चेतन आत्मा एक कैसे हो सकते हैं? क्योंकि जीव तो ज्ञान लक्षण वाला है और अजीव ज्ञान रहित हैं। हे आत्मन् तू शरीर नहीं है, किन्तु शरीर का अभी पड़ोसी है, शरीर से भिन्न उपयोग स्वरूप अपनी आत्मा को देख।

चूंकि जीवलोक को इस शरीर रूप में ही जीव का परिचय रहा है और कभी धर्म भी चला तो इसी पद्धति से, इसी कारण उक्त उपदेश की बात सुनते ही कोई शिष्य पूछता है कि प्रभो! शरीर से भिन्न आत्मा कहां है? शरीर ही जीव है, यदि शरीर ही जीव न होता तो तीर्थंकर देव की जो ऐसी स्तुति की जाती है कि आपकी कांति दसों दिशाओं में फैल जाती है, आपका रूप बड़ा मनोहारी है, आपके १००८ शुभ लक्षण हैं, इत्यादि सब स्तुति मिथ्या हो जावेगी तथा आचार्य परमेष्ठी की जो स्तुति की जाती है कि आप देश, जाति व कुल से शुद्ध हैं, शुद्ध मन, वचन, काय वाले हैं इत्यादि, वह भी स्तुति मिथ्या हो जावेगी। इस पर पूज्य श्री मत्कुन्दकुन्दाचार्य उत्तर देते हैं—

नय दो प्रकार के होते हैं (१) व्यवहारनय (२) निश्चयनय। व्यवहारनय

से तो देह व जीव का संयोग सम्बन्ध है। इसलिये देह व जीव में कथंचित् एकत्व मान लिया जाता है, परन्तु निश्चयनय से जीव में ही जीव है, देह जीव हो ही नहीं सकता। शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति नहीं होती। आत्मा की स्तुति से ही आत्मा की स्तुति होती है। यहां यह आवश्यक जान लेना चाहिये कि जो आत्मस्वरूप से बिलकुल अपरिचित है उसके लिये तो व्यवहारय से भी स्तुति नहीं कहला सकती।

अब निश्चय स्तुति किस प्रकार हो सकती है इस विषय पर आते हैं। चूंकि यह निश्चय स्तुति है, इसलिये जो भी विशुद्ध स्थिति कही जावेगी वह आत्मा की ही कही जावेगी। आचार्य पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्द प्रभु के द्वारा कही हुई निश्चय-स्तुति का भाव श्री अमृतचन्द जी सूरि व्यक्त करते हैं— जिन्होंने असंग, अखण्ड चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से ज्ञेय पदार्थों से, भावेन्द्रियों से, द्रव्येन्द्रियों से, द्रव्येन्द्रियों के विषय से पृथक् अपनी प्रतीति करके इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान-स्वभावमय अपने को माना है वे जितेन्द्रिय जिन कहलाते हैं। जो द्रव्यमोह व भावमोह से अलग अपनी आत्मा को लौटा लेने के द्वारा मोह को जीतकर परमार्थ सद्रूप ज्ञान-स्वभावमय अपनी आत्मा को अनुभवते हैं, वे जितमोह कहलाते हैं। (पुनश्च) उक्त प्रकार से मोह को जीत लेने वाले निर्मल आत्मा के मोह ऐसा समूल नष्ट होता हैं कि फिर कभी भी उसका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। ऐसी उस निर्मल आत्मा को क्षीण मोह कहते हैं। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सहजानन्दमय इत्यादि स्तुति भी निश्चय स्तुति कहलाती है। इन्द्रियों का विजय आत्म-ज्ञान ही है। वस्तुतः त्याग ज्ञानस्वरूप ही है, क्योंकि पर को पर जानकर ही त्याग किया जाता है। व पर तो भिन्न है ही, मान्यता में एक कर रक्खा था सो सच्चा ज्ञान करना ही उसका त्याग है।

इस प्रकार प्रासंगिक स्तुति-चर्चा के बाद अन्त में दिखाया है कि सम्यग्ज्ञानी की अन्तर्भावना ऐसी होती है—मोह मेरा कुछ नहीं है, मैं तो एक उपयोग मात्र हूँ, ज्ञेयाकार व ज्ञेय पदार्थ मेरा कुछ नहीं है, मैं तो एक उपयोग-

मात्र हूँ मैं एक (केवल) हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, अमूर्त हूँ और अन्य कुछ परमाणु मात्र भी मेरा कुछ भी नहीं है।

अजीवाधिकार

इस अधिकार में उन सब भावों को भी अजीव बतलाया है जो जीव के शुद्ध स्वरूप में नहीं हैं। अतः अजीव में अजीव द्रव्य तो हैं ही, साथ ही औपाधिक भाव भी अजीव हैं।

आत्मा को नहीं जानने वाले अतएव परभावों को आत्मा मानने वालों की विभिन्न धारणाएं हैं। कोई तो राग-द्वेष को, कोई राग-द्वेष के संस्कार को कोई कर्म को, कोई शरीर को, कोई कर्मफल को, कोई सुख दुःख को, कोई आत्मा व कर्म की मिलावट को इत्यादि अनेक प्रकार से जीव मानते हैं, किन्तु ये सब जीव नहीं हैं, क्योंकि ये सर्व या तो पुद्गलद्रव्य के परिणमन हैं या कर्म रूप पुद्गलद्रव्य के निमित्त से हुए परिणमन हैं।

इस अवसर में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि फिर तो जीवसमास, गुणस्थान आदि की चर्चा अथवा त्रस-स्थावर भेद वाले जीव मानना यह सब जैन शास्त्रों में क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि यह सब व्यवहार का उपदेश है, जो कि तीर्थ की प्रवृति के निमित्त बतलाना आवश्यक ही है। अन्यथा षट्कायके जीव पर्यायों को अजीव मानकर जितना चाहे मर्दित कर दिया जावे, हिंसा नहीं होनी चाहिये। फिर तो हिंसा के अभाव में बन्ध का अभाव व बन्ध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा अथवा उच्छृङ्खलता आ जावेगी। हाँ निर्विकल्प समाधि के उद्यम में तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही जीव है, अवशिष्ट भाव सब अजीव हैं। इसी दृढ़ प्रतीतिसे काम चलेगा।

वस्तुतः जीव का लक्षण चेतना है। जीव वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, शब्द से रहित है। जीव बाह्य चिन्ह् से ग्रहण में नहीं आ सकता। जीव का सहज नियत संस्थान भी कोई नहीं है। तात्पर्य यह है कि चैतन्य भाव के

अतिरिक्त अन्य सब भाव अजीव हैं। इसी कारण जीव के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मूर्तिकता, शरीर, संस्थान संहनन (अस्थिपिंजर) राग, द्वेष, मोह, कर्म, शरीर, विचार, योग, बन्ध, उदय, संक्लेश, विशुद्ध आदि कुछ नहीं है। ये सब व्यवहारनय से जीव के कहे गये हैं। व्यवहारनय विरोधक नहीं, किन्तु व्यवहारनय भी वस्तु के किन्हीं भावों के जानने का एक तरीका है। जैसे कि जिस रास्ते में चलते हुए मुसाफिरों को डाकूओं द्वारा लूटा जाता हो, लोग उस रास्ते को "यह रास्ता लूट लिया जाता है" ऐसा कह देते हैं। परन्तु वास्तव में रास्ता क्या लुटेगा, फिर भी व्यवहारनय से तो कहा ही जाता है; क्योंकि लुटने वाले उस रास्ते में होते हैं। इसी प्रकार जीव में बन्ध पर्यायसे स्थित कर्म व शरीर के वर्ण आदि को जानकर व्यवहारनय से कहा ही जाता है कि जीव में वर्णादिक हैं।

वस्तुतः जीव में वर्णादि का कुछ भी तादात्म्य नहीं हैं। यदि जीव के साथ वर्णादि का तादात्म्य मान लिया जाता है तब तो अनेक अनिष्टापत्तियां आती हैं—जैसे कि (१) वर्णादि का जिसके साथ तादात्म्य है वह तो पुद्गल कहलाता है; यदि कभी संसारी जीव मुक्त हो तो यही माना जायेगा कि पुद्गल को मोक्ष हो गया। (२) जीव अजीव का कोई भेद नहीं रहा, तो जीवका ही अभाव हो गया इत्यादि।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जिसका पुद्गल उपादान है वे परिणमन व जिनका पुद्गल कार्य निमित्त है वे परिणमन ये सब कोई भी परमार्थ से जीव के नहीं हैं। इन्हें अजीव कहा गया है।

कर्तृ—कर्माधिकार

अधिकार गाथा में यद्यपि कर्तृ—कर्मभाव अधिकार की कोई सूचना नहीं है, तो भी जीवाजीवाधिकार के पश्चात् व आस्रव अधिकार के पहले कर्तृ-कर्म अधिकार का कहना यह दिखाने के लिए आवश्यक हुआ है। कि जब जीव और अजीव स्वतन्त्र द्रव्य हैं तब जीव अजीव के सम्बन्ध व बन्ध पर्याय कैसे हो

जाती हैं ? इसका उत्तर कर्तृ-कर्माधिकार में किया गया है। जीव व अजीव का सम्बन्ध व बन्ध पर्याय कैसे मिट सकती है। इसका उत्तर भी उसी अधिकार में दिया गया है। जब तक जीव निज-सहज-स्वरूप व क्रोधादिक औपाधिक भावों में अन्तर नहीं जानता है तब तक क्रोधादि भावों को निज स्वरूप में जानने के कारण उनमें जीव की प्रवृत्ति होगी ही और क्रोधादि में वर्तने वाले इस जीव के निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध के वश से पुद्गल कर्म (अजीव) का संचय हो जाता है। पुद्गल कर्म के आने का नाम आजीवास्रव हैं और जीव में जो ये क्रोधादिक भाव हुए हैं उनका नाम जीवास्रव है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि अजीवास्रव का निमित्त तो निज व पर में परस्पर कर्तृ-कर्म भाव की मान्यता है। इस कर्तृ-कर्म भाव की मान्यता में क्या निमित्त है ? उत्तर—इस कर्तृ-कर्म भाव की मान्यता में पूर्वबद्ध अजीव कर्म का उदय निमित्त है। प्रश्न—इस कर्मास्रव में क्या निमित्त हुआ था ? उत्तर—इस कर्मास्रव में पूर्व का स्वपरकर्तृ-कर्मभाव निमित्त हुआ था। इस प्रकार यह अनादि प्रवाह-क्रम चला आया है। इस स्वपरकर्तृकर्मभाव की प्रवृत्ति भी अनादि से चली आई है।

यद्यपि यहाँ ऐसा सम्बन्ध है कि जीव के परिणाम को हेतु पाकर पुद्गल कर्माणवर्गणायें कर्मरूप से परिणम जाती हैं और पुद्गल कर्म के उदय को निमित्त पाकर जीव के ऐसे परिणम हो जाते हैं, तो भी जीव व पुद्गल का परस्पर कर्तृकर्म भाव नहीं है, क्योंकि जीव न तो पुद्गलकर्म का कोई गुण या परिणमन करता है और न पुद्गल कर्म जीव का कोई गुण या परिणमन करता है। केवल अन्योन्यनिमित्त से दोनों का परिणमन हो जाता है।

यह ही निमित्त—नैमित्तिक—सम्बन्ध के कारण व्यवहारनय से 'जीव पुद्गलकर्म (द्रव्यास्रव) का कर्त्ता और पुद्गल जीवास्रव का कर्त्ता कहा जाता है। जीव में अनुभवन-शक्ति है, सो वस्तुतः पुद्गलकर्म के उदय को निमित्त पाकर जीव अपने में आनन्द श्रद्धा-चारित्रादि गुणों को विकृत परिणमन रूप

से भोगता है, यह भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के हेतु जीव पुद्गलकर्म को भोगता है, यह भी व्यवहारनय से कहा जाता है। परमार्थ से जीव न तो पुद्गल कर्म को करता है और न पुद्गलकर्म को भोगता है क्योंकि यदि जीव पुद्गल कर्म को भी करे व भोगे तो एक तो जीव ने अपने परिणाम को किया व भोगा और पुद्गल कर्म को भी किया व भोगा तो एक तो जीव ने अपने परिणाम को किया व भोगा और दूसरे पुद्गल कर्म को भी किया व भोगा, तो इस तरह जीव दो द्रव्यों की क्रिया का कर्त्ता बन जायेगा। ऐसा होने पर चूंकि क्रिया का कर्त्ता से उस काल में तादात्म्य रहता है, इस कारण जीव व अजीव में भेद नहीं रहा अथवा जीव अजीव में से एक का अथवा दोनों का अभाव हो जायेगा इत्यादि अनेक अनिष्टापत्तियाँ हो जायेंगी। एक द्रव्य दो द्रव्यों की क्रिया का कर्त्ता है ऐसा अनुभव करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है अर्थात् वस्तु स्वरूप नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है अर्थात् वस्तुस्वरूप से विपरीत दृष्टिवाला है। कर्म उपाधि के निमित्त से होने वाले क्रोधादि औपाधिक भाव हैं, उनका भी जीव सहज भाव से याने उपाधि को निमित्त पाये बिना कर्त्ता नहीं है। इन क्रोधादिक परभावों का कर्त्ता न तो जीव है और न कर्म के परिणमन से जीव के उपादान में क्रोधादिक परिणमन होता है। जीव, निज, सहज, चैतन्य स्वरूप व क्रोधादि परभावों में अन्तर नहीं समझता, इसी कारण यह बन्ध होता है, यह मौलिक प्रकृत बात सिद्ध हुई।

अब जिज्ञासा होती है कि इस बन्ध का अभाव कैसे हो? समाधान—जीव की परभाव के प्रति कर्त्ता कर्म की प्रवृत्ति होने से बन्ध होता था। जब कर्त्ता कर्म की प्रवृत्ति दूर हो जाती है तब बन्ध का भी अभाव हो जाता है।

प्रश्न—इस कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव कैसे हो जाता है?

उत्तर—जब यह जीव आत्मा में व परभाव में इस प्रकार से अन्तर जान लेता है कि वस्तु स्वभावमात्र होती है, मैं वस्तु हूँ। सो मैं भी स्वभावमात्र हूं। स्वभाव कहते हैं स्व के होने को, मैं स्व ज्ञानमय हूं। सो जितना ज्ञान का होना है सो तो मैं आत्मा हूँ और क्रोधादि का होना क्रोधादि है, आत्मा (स्व) व क्रोधादि-आस्रवों में एक वस्तुता नहीं है। जब जीव ऐसा आत्मा व आस्रव में अन्तर जान लेता है तभी कर्त्ता कर्म की प्रवृत्ति दूर हो जाती है और कर्त्ता-कर्म की प्रवृत्ति दूर होने पर पुद्गल कर्मबन्ध भी दूर हो जाता है।

आत्मा और अनात्मा के भेदविज्ञान से उसी काल में आस्रव की निवृत्ति होने लगती है। ज्ञानी जीव के इस प्रकार का विशद ज्ञान प्रकट रहता है—मैं आत्मा सहज पवित्र हूं, ज्ञान स्वभावी हूँ, दुख का अकारण हूं, सम हूं, नित्य हूं, स्वयंशरण हूं, आनन्द स्वभावी हूं; किन्तु ये आस्रव (परभाव) अपवित्र हैं, विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, दुख के कारण हैं, विषम हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुखस्वरूप हैं और इनका दुख ही फल है। मैं एक हूं, शुद्ध हूं, मोह रागादि परभावरहित हूं, ज्ञानदर्शनमय हूँ, मैं (आत्मा) कर्म के परिणमन को व नोकर्म के परिणमन को नहीं करता हूँ। पुद्गलकर्म परद्रव्य है। मैं परद्रव्य का ज्ञायक तो हूं, किन्तु परद्रव्य में व्यापक नहीं हूँ। अतएव परद्रव्य की पर्यायरूप से परिणमता नहीं हूँ अर्थात् मैं परद्रव्य की परिणति का कर्त्ता नहीं हूं। मैं पुद्गलकर्म के फल सुख दुःखादि को जान तो सकता हूँ, किन्तु पुद्गलकर्म की परिणति का कर्त्ता नहीं हूं। इसी प्रकार पुद्गलकर्म भी मेरा कर्त्ता नहीं है।

अशुद्ध-निश्चयनय से आत्मा तो मात्र अपने अशुद्ध भाव का कर्त्ता है, उसको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से स्वयं परिणम जाता है। जैसे कि हवा के चलने के निमित्त से समुद्र में तरंग उठती है। निश्चय से तरंगों का कर्त्ता तो समुद्र ही है, हवा तो उसमें निमित्त है। हवा में हवा का कार्य है समुद्र में समुद्र की परिणति है। प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्र सत्तात्मकता के ज्ञान से कर्मबन्ध रुकता है और पर को आत्मा मानने व आत्मा को पररूप मानने से कर्म का बन्ध होता है। अथवा पर को आत्मा मानने वाला अज्ञानी जीव कर्म का कर्त्ता होता है। वस्तुतः तो अज्ञानी जीव भी कर्म का कर्त्ता नहीं है। परन्तु अपने अशुद्ध भाव का कर्त्ता है। उस अशुद्धभाव को निमित्त पाकर कर्म का आस्रव स्वयं हो जाता है। वस्तुतः कर्मास्रव का निमित्त रूप से भी जीव कर्त्ता

नहीं है, किन्तु उसके योग व उपयोग जो कि अनित्य हैं, वे अनित्य परिणमन ही वहाँ निमित्त हैं। क्योंकि यह वस्तु स्वभाव अटल है—कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के रूप या अन्य गुण-पर्याय रूप नहीं तो सकता। इसलिए यह सुसिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्म का कर्त्ता नहीं है।

यहाँ दो दृष्टियों से यह निर्णय करना चाहिये—(१) निश्चयनय से जीव पुद्गलकर्म का कर्त्ता नहीं है। (२) व्यवहारनय से जीव पुद्गलकर्म का कर्त्ता है। (१) निश्चयनय से जीव पुद्गलकर्म का भोक्ता नहीं है। (२) व्यवहारनय से जीव पुद्गलकर्म का भोक्ता है। (१) निश्चयनय से जीव में पुद्गलकर्म बद्ध नहीं है। (२) व्यवहारनय से जीव में पुद्गलकर्म बद्ध है। (१) निश्चयनय से जीव में राग-द्वेष आदि नहीं हैं। (२) व्यवहारनय से जीव में राग-द्वेषादि हैं। (१) निश्चयनय से जीव पुद्गल के परिणमन का निमित्त नहीं है। (२) व्यवहारनय से जीव पुद्गल परिणमन का निमित्त है। इत्यादि अनेक चर्चायें दोनों नयों से स्पष्ट कर लेनी चाहिएं। पश्चात् समयसार के अनुभव के उद्यम में दोनों ही नयपक्षों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैसे कि पूर्ण निर्मल, देवाधिदेव, सर्वज्ञ परमात्मा विज्ञानघन-भूत होने के कारण नयपक्ष के परिग्रह से दूर होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं। इसी प्रकार जिन संज्ञक को निर्मल सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी, अन्तरात्मा श्रुतज्ञानात्मक विकल्प वाले होकर भी परिग्रह के प्रति उत्सुकता से निवृत होने के कारण विकल्प-भूमिका से दूर होकर स्वरूप को ही जानते हैं और किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

पुण्य पापाधिकार

मोह व रागद्वेष की प्रवृत्ति के निमित्त से जिन कर्मों का आस्रव हुआ, उनमें से कारणभूत शुभ-अशुभ योग प्रयोग के अनुकूल कोई कर्म शुभ प्रकृति के (पुण्यरूप) व कोई अशुभ प्रकृति के (पापरूप) हो जाते हैं। होओ, फिर भी चाहे पुण्य कर्म (सुशील कर्म) हो, चाहे पाप कर्म (कुशील कर्म) हों;

सभी वस्तुतः कुशील ही हैं, क्योंकि सभी कर्म संसारमार्ग के निमित्त हैं। जैसे कि चाहे स्वर्ण की बेड़ी हो, चाहें लोहे की बेड़ी हो, कैदी के लिये दोनों भारभूत हैं। इसलिये दोनों प्रकार के कर्मों को बन्धमार्ग जानकर इनमें या इनके कारणभूत भावों में व आश्रयभूत विषयों में मन वचन काय से राग व संसर्ग छोड़ देना चाहिए। रागी जीव कर्मों को बाँधता है व विरागी-आत्मा कर्मों से छूट जाता है। इसलिये चाहे शुभ कर्म हो, चाहे अशुभ कर्म हो, किसी भी कर्म में राग मत करो। जैसे वन के हाथी को फंसाने के लिये शिकारी लोग एक गड्ढे पर बाँस व कागज की बड़ी सुन्दर एक हथिनी बनाते हैं और सामने एक झूठा हाथी। वन हस्ती हथिनी के राग में व दूसरे हाथी को विषय बाधक जानकर उससे द्वेष के कारण शीघ्र वहाँ आता है और गड्ढे में गिर जाता है। तो उस हाथी को गड्ढे का अज्ञानरूप मोह था व सुन्दर हथिनी का राग था व दूसरे हाथी से द्वेष था। इस तरह मोह राग द्वेष वश हाथी ने विपत्ति ही पाई। पुण्यकर्म भी झूठी सुन्दर हथिनी के समान विपत्ति में निमित्त बन जाता है। इसलिये किसी भी कर्म में राग मत करो।

मोह-राग-द्वेष ये सभी अज्ञान के विविध रूप हैं। ये भाव जानने का कार्य नहीं करते, इसलिए भी अज्ञान रूप हैं। अज्ञान भाव बन्ध का हेतु है, व ज्ञानभाव मोक्ष का हेतु है। परमार्थभूत ज्ञान होने पर बाह्य व्रत नियम तप की विशेषता न हो तो भी ज्ञान मोक्ष का कारण है। जो परमार्थभूत समयसार से अपरिचित हैं वे ही केवल अशुभ कर्मों को ही बंध का कारण जानकर व शुभ कर्म को मोक्ष का कारण जानकर पुण्य कर्म की चाह करते हैं।

सब ही कर्म मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्र का तिरोभाव करने वाले हैं। इसलिए ज्ञानभाव मोक्ष का अर्थात् पूर्ण विकास का हेतु है। अतः सर्व कर्मों का राग छोड़कर एक निजज्ञायक स्वभाव की उपासना करना शान्ति का (मोक्ष का) मार्ग है।

आस्रवाधिकार

विकृत रूप से आने को आस्रव कहते हैं। आस्रवभाव जीव के राग द्वेष

मोह भाव हैं। इनको निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओं में भी विकार की प्रकृति बनती है। इसलिए आस्रव का परिणाम होने से इन पौद्गलिक वर्गणाओं में कर्मत्व आने को भी आस्रव कहते हैं।

राग द्वेष मोह भाव अज्ञानमय परिणाम हैं। अज्ञानमय परिणाम अज्ञानी जीव के होते हैं। ज्ञानी के ज्ञानमय परिणाम होते हैं। ज्ञानमय परिणामों के द्वारा अज्ञानमय परिणामों का निरोध हो जाता है। अतः ज्ञानी जीव के ज्ञानमय परिणामों के द्वारा आस्रव का निरोध हो जाता है। अतश्च पुद्गलकर्म का बंध नहीं होता, क्योंकि अज्ञानमय परिणाम ही कर्तृत्वबुद्धि में प्रेरक होता है, ज्ञानमय परिणाम तो स्वभाव का ही उद्भासक है, उससे बंध कैसे हो सकता है।

यहाँ कोई पुरुष ऐसे शंकालु हो सकते हैं, कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव के भी तो दशवें गुण स्थान तक बन्ध चलता है, फिर ज्ञानी को अबन्धक कैसे कहा है? सो उन्हें तीन प्रकार से बात जानकर अपना चित्त समाधान रूप कर लेना चाहिए। (१) जिस गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है, उतनी प्रकृतियों की अपेक्षा उन्हें अबन्धक समझना, (२) जो भी किंचित् बंध होता है वह संसारवृद्धि की सामर्थ्य नहीं रखता, इसलिए अबन्ध-सम ही समझना, (३) ज्ञानी विशेषण कहने से उसको केवल ज्ञानपरिणमनरूप से ही देखना, अन्य परिणमनरूप से नहीं देखना, तब तो यह पूर्ण सिद्ध है कि ज्ञानी के किंचिन्मात्र भी बन्ध नहीं होता।

ज्ञानी जीव के पूर्व संचित कर्म उदय में आप झड़ जाते हैं, नवीन बन्ध के कारण नहीं बनते, क्योंकि ज्ञानी के विभाव में राग नहीं रहा। ज्ञानी जीव के जो भी बंध चलता है वह ज्ञान की जघन्यता से अनुमीयमान शेष रहे अबुद्धिपूर्वक राग के कारण होता है। अतः कर्त्तव्य तो यही है कि तब तक ज्ञान की अनवरत उपासना करना चाहिए, जब तक ज्ञान का पूर्ण विकास न हो।

शुद्धनय के विषयभूत समयसार से च्युत रहकर या होकर जीव रागादि

परिणाम से संकीर्ण हो जाता है और उसके निमित्त से पुद्गल-कर्म वर्गणाए स्वयं बंधरूप से परिणम जाती हैं। जैसे किसी पुरुष ने आहार ग्रहण किया, यह तो उसका बुद्धिपूर्वक कार्य हुआ। अब आगे वह आहार स्वयं रस, रुधिर, मल आदि रूपपरिणम जाता है और उसका जो विपाक होना होता है, होता है। यह सब निमित्त-नैमित्तिक भाववश होता ही है। यदि कोई आसक्ति से आहार ग्रहण करे तो उसे उसके फल में आहार-विपाक के समय वेदना भोगनी पड़ती है। इसी तरह यदि कोई आसक्ति से, मोह से विभावरति करे तो तन्निमित्तिक हुए कर्मबंध के परिपाकसमय में वेदना भोगनी पड़ती है। इसलिए कहा जा सकता है कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्"। अतः कल्याणार्थी को अपने परिणाम सदा सावधान रखना चाहिए।

संवराधिकार

संवर नाम रुकने का है। रागादि भावों के आगमन रुकने के या न आने को संवर कहते हैं। इस रागादि के संवर के परिणाम में कर्मों का आना भी रुक जाता है। अतः कर्मों का आना रुक जाने को भी संवर कहते हैं। संवर का उपाय भेदविज्ञान है। आत्मा तो ज्ञानमात्र है और ज्ञानभाव के अतिरिक्त शेष सर्व औपाधिकभाव अनात्मा है। वही अब यह देखना चाहिये कि ज्ञान में (उपयोग में अथवा आत्मा में) क्रोधादिक औपाधिक भाव नहीं हैं और क्रोधाधिक औपाधिक भावों में उपयोग नहीं हैं। क्रोधाधिक तो कुध्यतादिक स्वरूप में है और ज्ञान जानता रूप में ही है। इस भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से संवर होता है।

शुद्धात्मा को जानता हुआ शुद्धात्मा को प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ आत्मा अपने को अशुद्ध ही पाता रहता है। शुद्धात्मा की प्राप्ति व संवर का बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक उपाय यह है कि—शुभ तथा अशुभ योग में प्रवर्तते हुए अपने आपको प्रबल भेदविज्ञान के उपयोग द्वारा इस प्रवर्तन से रोके और शुद्ध चैतन्यात्मक निज आत्म-तत्त्व में प्रतिष्ठित करे। फिर यह आत्मा इच्छा-रहित व संग-रहित होकर अपने आपके द्वारा अपने आत्मा का ध्याता हो जाता है। उस समय एकत्व-विभक्त निज आत्मा का

ध्यान करता हुआ अर्थात् चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा का ध्यान करता हुआ निज अकलंक आत्मा को प्राप्त करता है। यही संवर का प्रकार है व कर्मों से मुक्त होने का उपाय है।

तात्पर्य यह है कि भेदविज्ञान से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है। शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होने से अध्यवसानों का अभाव होता है, अध्यवसानों के अभाव होने पर मोहका अभाव होता है, मोहभाव का अभाव होने पर राग-द्वेषभाव का अभाव हो जाता है, राग-द्वेष का अभाव होने पर कर्म का अभाव हो जाता है, कर्म का अभाव होने पर सदा के लिये शरीर का अभाव हो जाता है और शरीर का अभाव होने पर संसार का अभाव हो जाता है। संसार ही दुःख है, सो दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाता है। इसलिए भेदविज्ञान की तब तक निरन्तर भावना करनी चाहिए जब तक कि अज्ञान पर से बिल्कुल न हट जावे और ज्ञान में ही प्रतिष्ठित न हो जावे।

निर्जराधिकार

विकार के झड़ने का नाम निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है (१) भावनिर्जरा, (२) द्रव्यनिर्जरा—सुख-दुःख राग द्वेषादि विभाव जो उदित हुए, वे बंध के कारण न बनें और झड़ जावें इसका नाम तो भावनिर्जरा है और इसी कारण अन्यबंध का कारण न बन कर उन कर्मों का व अन्य कर्मों का निष्फल झड़ जाना सो द्रव्य निर्जरा है।

ज्ञान का ऐसा ही सामर्थ्य है कि कर्मविपाक को भोगता हुआ भी ज्ञानी कर्मों से नहीं बंधता है। जैसे कि तान्त्रिक, मान्त्रिक अथवा विषवैद्य पुरुष वि[ष] को खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता। वैराग्य में भी ऐसा ही सामर्थ्य है। वस्तुतः ज्ञान और वैराग्य अलग अलग तत्त्व नहीं है, विधि रूप से देख[ने] पर ज्ञानप्रतिष्ठित है और राग-निषेध की ओर से देखने पर वैराग्य प्रतिष्ठि[त] है।

सम्यग्दृष्टि का मुख्य विचार एक यह भी रहता है कि जो लोभ, क्रोधा[दि] प्रकृति वाले कर्म होते हैं, उन कर्मों के उदय के निमित्त से उत्पन्न हुए रागादि भाव परभाव हैं। ये मेरे स्वभाव नहीं हैं मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्च[ल]

स्वतःसिद्ध एक ज्ञायक स्वभावरूप हूं। इस विचार-बल से ज्ञानी परभावों से विरक्त रहकर उनको छोड़ देता है।

रागादिभाव आत्मा का स्वपद नहीं हैं, क्योंकि ये सभी भाव आत्म स्वभाव के विरुद्ध हैं, विषम हैं, अनेक रूप हैं, क्षणिक हैं और व्यभिचारी हैं। कभी कोई भाव रहे, कभी कोई भाव न रहे। दूसरा रहे, इस कारण स्थायी रूप से आत्मा में स्थान नहीं पाते अर्थात् अस्थायी हैं। किन्तु ज्ञानस्वभाव आत्मा का स्वपद है, क्योंकि यह ज्ञानस्वभाव आत्म-स्वभाव है, सम अर्थात् नियत है, एकरूप है, नित्य है व अव्यभिचारी अर्थात् अनवरत सदा आत्मा में रहता है। इस ही कारण ज्ञानस्वभाव स्थायी रूप से आत्मा में स्थान पाता है। इसलिए हे आत्मन्! इस एक ज्ञान स्वभाव का ही अनुभव करो। जिसमें रंचमात्र भी विपत्ति नहीं रहती।

इस ज्ञानस्वभाव के जितने परिणमन हैं, उन परिणमनों के ज्ञान-द्वार से परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव को ही देखो। इस ज्ञान भाव के आश्रय से ही ज्ञान की प्राप्ति है, अन्य क्रियाओं से नहीं। इस ज्ञानभाव के आश्रय के बिना महान् तपों का भार भी सहे तो भी मुक्ति नहीं होती।

ज्ञानोपयोगी आत्मा निष्परिग्रह है, क्योंकि परिग्रह तो वास्तव में इच्छा ही है, सो ज्ञानी के इच्छा का आदर ही नहीं, राग ही नहीं, केवल इच्छा का ही नहीं, किन्तु समस्त विभावों का ज्ञानी के ममत्व नहीं, आदर नहीं, ज्ञानी किसी भी परभाव को नहीं चाहता। इसी कारण बाह्य विषयों की चाह नहीं। ज्ञानी आत्मा अतीत भोगों का तो ख्याल ही क्या करेगा, वह तो वर्तमान भोगों में भी वियोग बुद्धि से प्रवर्तमान हो रहा है। जो वियोग बुद्धि से रहे वह परिग्रही नहीं है। भविष्यत् भोग की चाह भी अनेक कारणों से ज्ञानी के नहीं है (१) ज्ञानी के वस्तुस्वभाव की ओर दृष्टि रहा करती है सो निदान को अवसर ही नहीं मिलता। (२) वस्तुस्वातंत्र की प्रतीति के कारण किसी भी बाह्य पदार्थ से ज्ञानी को हित की आशा ही नहीं है। (३) ज्ञानी के यह दृढ़ निश्चय है कि इच्छाभाव व भोगभाव ये दोनों भाव एक समय में हो ही नहीं सकते, क्योंकि जब किसी वस्तु की चाह है तब तो उस वस्तु

का भोग नही और कदाचित उस वस्तु का भोग हो तो तद्विषयक चाह नहीं कि यह मिल जावे। जब इच्छा व भोग दोनों एक समय में मिल नहीं सकते तो फिर चाह ही क्यों की जावे।

ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार के राग-रस का छोड़ने वाला होता है। इसी कारण कोई ज्ञानी कर्म के मध्य भी पड़ा हो, तो भी कर्म से लिप्त नहीं होता जैसे कि सुवर्ण का जंग से लिप जाने का स्वभाव नहीं है, सो कीचड़ के बीच पड़ा हुआ सोना जंग नहीं लाता। लोहे का जंग से लिप जाने का स्वभाव है, सो कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा जंग खा जाता है। इसी तरह अज्ञानी जीव राग-रस से लिप्त हो जाने की प्रकृति वाला है, सो कर्ममध्य पड़ा हुआ कर्म से लिप्त रहता है।

ज्ञानी का मुख्य चिन्ह कामना का अभाव है। कोई सोचे—मैं ज्ञानी हूँ, मुझे भोग में भी कर्म बंध नहीं होता और यदि कामना बनी हुई है तो उसके बने रहने से कर्मबंध में फरक नहीं आता। यह मात्र कहने की चीज नहीं है। उस रूप परिणमने की करामात है।

सम्यग्दृष्टि का परिणमन कैसा होता है इस विषय को संक्षेप में कहा जाय तो उसका अष्ट अंगों द्वारा वर्णन होता है। सम्यग्दृष्टि के अंग ८ हैं—(१) निःशंकित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्सित (४) अमूढ़दृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

निःशंकितः—ज्ञानी आत्मा सातों प्रकार के भय से रहित होने से व यथार्थ वस्तु स्वरूप की यथार्थ प्रतीति के कारण सदा निःशंक रहता है। ज्ञानी जीव को इह लोक भय नहीं रहता कि इस जीवन का कैसे गुजारा होगा, क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि है कि मेरा लोक तो चैतन्य है इसका गुजारा याने परिणमन तो निर्बाध होता ही रहेगा। ज्ञानी जीव के परलोक भय नहीं रहता कि परलोक में मेरा कैसे गुजारा होगा, क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि है कि चैतन्य ही मेरा परलोक है उसका गुजारा भी निर्बाध होगा। ज्ञानी जीव के वेदना भय नहीं होता कि रोग से मेरी वेदना (अनुभूति) कैसी होगी, क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि है कि यह अविचल ज्ञान स्वयं वेदा जा रहा है यही मेरी वेदना है,

यह अन्य वस्तु से नहीं होती। ज्ञानी जीव के अरक्षाभय नहीं होता कि मेरी कोई रक्षा नहीं है, कभी मेरा नाश न हो जाय, क्योंकि ज्ञानी आत्मा की दृष्टि है कि जो सार है उसका नाश नहीं होता, सत् स्वयं सुरक्षित है, मैं भी सत् हूँ, अतः सुरक्षित हूं। ज्ञानी जीव के अगुप्तिभय नहीं होता कि मेरा कोई गुप्त स्थान (किला आदि सुदृढ़ स्थान) नहीं है, कोई मुझे बाधा देने न आ जावे। क्योंकि ज्ञानी जीव की दृष्टि है कि मेरा स्वरूप ही मेरी गुप्ति है उसमें पर का प्रवेश ही नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव के मरण-भय नहीं कि मेरे प्राण नष्ट न हो जायें, क्योंकि ज्ञानी आत्मा की यह दृष्टि है कि मेरा प्राण तो ज्ञान है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव के आकस्मिक भय नहीं होता कि मुझ पर अकस्मात् कोई आपत्ति न आ जाये क्योंकि ज्ञानी जीव की दृष्टि है कि मैं अनादि, अनन्त, अचल, स्वतः सिद्ध, ज्ञानमात्र हूँ, मुझ में दूसरे का आक्रमण नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव के वस्तुस्वरूप की अविचल प्रतीति है, उसके भय कहाँ से हो ? वह तो निःशंक स्वयं सहज ज्ञान का अनुभव करता है। इसलिए उसके शंकाजनित बंध नहीं होता, किन्तु निःशंक होने से निर्जरा ही होती है।

निःकांक्षित—सम्यग्दृष्टि जीव के सब प्रकार के कर्मों में कर्म के फलों में और भोगों में वाञ्छा नहीं रहती है, इसलिये उसके कांक्षाकृत बंध नहीं होता किन्तु निष्कांक्ष होने से निर्जरा होती है।

निर्विचिकित्सित—सम्यग्दृष्टि जीव के धर्मात्माओं के अशुचि शरीर की सेवा में, धर्मात्माओं में व समस्त वस्तु-धर्मों में ग्लानि नहीं रहती और न कर्मविपाक स्वरूप क्षुदा आदि विपत्तियों में खेदरूप परिणाम रहता है, इसलिए उसके विचिकित्साकृत बंध नहीं होता, किन्तु निर्विचिकित्स होने से निर्जरा ही होती है।

अमूढ़दृष्टि—सम्यग्दृष्टि जीव के धर्म-विरुद्ध किसी भी कुभाव में व कुभाव वालों से संमोह नहीं होता। इसलिए उसके मूढदृष्टिकृत बंध नहीं है, किन्तु अमूढ़दृष्टि होने से निर्जरा ही होती है।

स्थितिकरण—उन्मार्ग में जाते हुए स्वयं को उन्मार्ग में जाने से रोक लेने व स्वयं को स्वरूप में स्थित कर देने से एवं पर को भी धर्म में स्थित कर

देने के निमित्त होने से ज्ञानी स्थितिकरण-युक्त होता है, इसलिए उनके मार्ग पतन-कृत बंध नहीं होता, किन्तु धर्मस्थिरता के कारण निर्जरा ही होती है।

वात्सल्य—रत्नत्रय को अपने में अभेदबुद्धि से देखने की वत्सलता होने से व व्यवहार में धर्मात्मा जनों में निश्छल वात्सल्य होने से सम्यग्दृष्टि मार्गवत्सल होते हैं। इसलिये उसके अवात्सल्यकृत बंध नहीं होता, किन्तु मार्ग वत्सलता के कारण निर्जरा ही होती है।

प्रभावना—ज्ञानशक्ति के विकास से सम्यग्दृष्टि प्रभावनाकारी होता है। अतः उसके अप्रभावनाकृत बंध नहीं है, किन्तु ज्ञानप्रभावक होने से निर्जरा ही होती है। ज्ञानी पुरुष अपनी अलौकिक आध्यात्मिक चर्या के कारण पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है। वह निर्जरा मोक्ष तत्व का साधन है।

बंधाधिकार

निर्जरा का फल मोक्ष है। मोक्ष बंधपूर्वक है। अतः मोक्षतत्त्व के वर्णन से पहले बंधतत्त्व का वर्णन किया जा रहा है। बंध किस कारण होता है यह व्यक्त करने के लिए एक उदाहरण है। जैसे कोई मल्ल देह में तेल लगाकर धूलभरी भूमि पर स्थित होकर तलवार से कदलीवंश आदि पेड़ों को काटता है। इस अवसर में उसका देह धूल से लिप्त हो जाता है। यहां विचार करो कि वह धूल क्यों चिपट गई ? क्या धूलभरी भूमि में स्थित होने से धूल चिपट गई ? नहीं। यदि धूल भरी भूमि में स्थित होने के कारण धूल चिपटी होती तो अन्य कोई मल्ल जिसके देह से तेल न लगा हो वह उसी भूमि में वैसा ही व्यायाम करे उसके तो नहीं चिपटती। क्या शस्त्र चलाया इस कारण धूल चिपटी ? नहीं, दूसरा भी तो वही शस्त्र चलाता है उसके तो नहीं चिपटती। क्या वृक्षों का घात करता है इस कारण चिपटी ? नहीं; दूसरा मल्ल भी तो घात करता है उसके क्यों नहीं चिपटती निष्कर्ष यह है कि इन बाह्य साधनों से धूल नहीं चिपटी, किन्तु जो देह में स्नेह (तेल) लगा है, उसके कारण चिपटी। इसी प्रकार अज्ञानी जीव रागादि करता हुआ कार्माण-वर्गणाओं से व्याप्त लोक में मन वचन काय की चेष्टा करता अनेक प्रकार के साधनों से सजीव अजीव पदार्थों का घात करता हुआ कर्म से

बंध जाता है। यहां विचार करो कि कर्म बंधने का कारण क्या है ? क्या वह जीव कार्माणवर्गणा व्याप्त लोक में स्थित है इस कारण कर्म-बंध हुआ ? नहीं क्योंकि अरहंत सिद्ध भी तो ऐसे ही लोक में हैं, तो उनके कर्म बंध नहीं होता। क्या मन वचन काय की चेष्टा कर्म बन्ध का कारण है ? नहीं, क्योंकि ग्यारहवें बारहवें, तेरहवें गुणस्थान वालों के भी तो योगचेष्टा हैं, उनके तो कर्म नहीं बंधता। क्या अनेक उपकरण उसके पास हैं इसलिये कर्म बंध होता है ? नहीं अरहंतदेव के समीप समवसरणादि महान् वैभव है, उनके तो बंध नहीं होता है ? क्या घात होने से कर्म बंध होता है ? नहीं, समिति-पूर्वक क्रिया करने वाले मुनि-देह से सूक्ष्म जन्तु-घात संभव है, उनके तो बंध नहीं होता। निष्कर्ष यह है, कि इन बाह्य साधनों से कर्म-बंध नहीं होता, किन्तु उपयोग में जो रागादि (स्नेह) को ले जाना है वह कर्म बंध का कारण है।

जो ज्ञानी रागादि को उपयोग भूमि में न ले जावे ज्ञान स्वरूप रहे, वह कर्म से नहीं बंधता। यहां विशेष यह जानना चाहिए कि राग से जो बंध होता है वह संसार को दृढ़ नहीं करता, किन्तु राग में राग होने से जो बंध होता है वह संसार को दृढ़ करता है।

अज्ञानी जीव की मान्यता परतंत्रता की रहती है। अज्ञानी के ऐसे भाव होते हैं कि मैं दूसरों को मारता हूँ, दूसरों से मारा जाता हूं, मैं दूसरों को जिलाता हूँ दूसरों के द्वारा मैं जिलाया जाता हूँ, मैं दूसरों को सुख दुःख देता हूं, दूसरे मुझे सुख दुःख देते हैं इत्यादि, किन्तु यह सब भाव मिथ्या हैं। जीवों का मरण उनके ही आयु कर्म के क्षय से होता है। जीवों का जीवन उनके ही आयु-कर्म के उदय से होता है। सुख-दुःख भी उनके कर्म के उदय से होता है। किसी के विकल्प से किसी अन्य जीव की परिणति नहीं होती, विकल्प करके प्राणी कर्म बंध ही करता है। उन विकल्पों में यदि वे विकल्प पाप-सम्बन्धी हो तो पाप बंध होता है। यदि दया व्रत तप आदि के शुभ विकल्प हो तो पुण्य बंध होता। बाह्य पदार्थ बंध का कारण नहीं है। बंध का कारण तो विकल्प है। विकल्प का आश्रय भूत बाह्य पदार्थ है।

ज्ञान—स्वभाव का अनुभव बंध का टालनेवाला है। परमार्थभूत ज्ञान

भाव के आश्रय बिना दुर्धर व्रत तप भी निर्वाण के साधन नहीं होते, किन्तु कर्म बंध के हेतु होते हैं। पर्यायबुद्धि जब तक रहती है तब तक जीव संसार का ही पात्र होता है। मोक्षमार्ग की सिद्धि उस अज्ञानी के कैसे हो सकती है।

तात्पर्य यह है कि निज आत्मा को ज्ञायक स्वभावरूप स्वीकार किये बिना कितने भी विकल्प किये जायें उनसे मुक्ति नहीं होती, किन्तु बंध ही होता है। मैं साधु हूं, मुझे दया करनी चाहिये, सत्य बोलना चाहिए, परीषह सहना चाहिये, वह परीषह भी ऐसे सहे कि कोल्हू में पिल जाय फिर भी उफ या क्रोध न करे। इन सब करामातों के बावजूद भी चूंकि अपने को साधु पर्याय रूप में ही प्रतीत किया है, ज्ञायक स्वरूप के अनुभव से अनभिज्ञ है। अतः पुण्य बंध तो होता है और मिथ्या आशय के कारण पाप बंध भी होता है। किन्तु धर्मभाव, संवर व निर्जरा भाव नहीं होता है। अतः दुःखों से मुक्ति पाने के लिये निज शुद्ध सनातन चित्स्वरूप का प्रज्ञा द्वारा परिचय प्राप्त करना चाहिये।

मोक्षाधिकार

आत्मा और बंध को दो रूप अर्थात् अलग अलग कर देने का नाम मोक्ष है। आत्मा स्वभावरूप है। बंध विभाव रूप है। स्वभाव का विभाव परिणमन न रहकर स्वभाव परिणमन रहे, यही अवस्था मोक्ष तत्व में है।

कितने ही पुरुष बंध के चिन्तन परिणाम को मोक्ष का कारण मानते हैं। वह ठीक नहीं, क्योंकि जैसे कि बेड़ी में बंधा हुआ पुरुष बेड़ी बंध के स्वरूप जानने मात्र से या बेड़ी की चिन्तामात्र से छुटकारा नहीं पाता, किन्तु बेड़ी बंध कटने से अर्थात् अलग होने से ही छुटकारा पाता है। इसी प्रकार कर्मबंध से बद्ध आत्मा बंध का स्वरूप जानने मात्र से या अपायविचयधर्म-ध्यान में ही बुद्धि लगाने मात्र से कर्ममुक्त नहीं होता। किन्तु बंध छेद से अर्थात् विभाव परिणमन के अलग करने से ही कर्म मुक्त होता है। बंधच्छेद का उपाय क्या है? प्रज्ञा। नियत स्वलक्षण का जो अवलम्बन करे ऐसे विज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं। पहिले प्रज्ञा से यह निर्णय किया जाता है कि आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है जो कि आत्मा में अनादि अनन्त तादात्म्यरूप से है तथा

आत्मातिरिक्त किसी भी पदार्थ में कभी नहीं रहता, और बन्ध का स्वलक्षण रागादिक है जो कि चैतन्य चमत्कार से अन्य तथा आत्मा में उपाधि संयोगवश क्षण-क्षण को प्रतिभासते हैं व नष्ट होने वाले हैं। पश्चात् बंध का स्वभाव विकारक जान कर बंध से विरक्त हुआ जाता है और शुद्ध आत्मतत्व को आत्मस्वभाव जानकर उसको ग्रहण किया जाता है। यह ग्रहण अभिन्न चेतन-क्रिया द्वारा अभिन्न षटकारक रूप में होता है। जैसे कि मैं चेतता हूं, चेतयमान होता हुआ चेतता हूँ, चेतयमान को चेतता हूं, चेतयमान के द्वारा चेतता हूँ चेतयमान के लिए चेतता हूँ चेतयमान से चेतता हूं, चेतयमान में चेतता हूं। पश्चात् अभेद चैतन्य की प्रखर उपासना में अभिन्न षटकारक के सूक्ष्म विकल्प का भी निषेध करके (कि मैं न चेतता हूं, न चेतयमान होता हुआ चेतता हूं, न चेतयमान को चेतता हूं आदि रूप से निषेध करके) सर्वविशुद्ध चिन्मात्र हूं, ऐसा अनुभव होता है। इसी शुद्ध अनुभव के बल से बंधच्छेद होता है, क्योंकि परभाव का ग्रहण करना ही अपराध अर्थात् राध (आत्मसिद्धि) से दूर रहने का भाव था, इस अपराध के दूर होने पर बंध की शंका ही संभव नहीं है।

सर्वविशुद्धचिन्मात्र के अनुभव का परिणमन व्यवहार प्रतिक्रमण आदि भाव से भी उत्कृष्ट है और वस्तुतः द्रव्यप्रतिक्रमणादि, व अज्ञानी जनों के अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण यह सहज अप्रतिक्रमाणादि तो अमृत है और वे दोनों विष हैं। सहज अप्रतिक्रमणादि रूप तृतीय भूमि का संबंध ही द्रव्य प्रतिक्रमणादि को अमृतपना व्यवहार से सिद्ध कराता है। इस प्रकार सर्व विशुद्धचिन्मात्र के अनुभव का परिणमन सर्वोत्कृष्ट परिणमन है और यही मोक्ष का हेतु है।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

नव तत्वों का वर्णन करके, अब अन्त में सबके आधार भूत उसी पारिणामिकभाव का पुनः विस्तार से इस अधिकार में वर्णन किया गया है जिसकी कि सूचना पीठिका में की गई थी।

सम्यग्दर्शन का विषय शुद्धद्रव्य है। ज्ञान की समीचीनता भी शुद्ध द्रव्य के परिचय से है। सम्यकचारित्र का स्वरूप लाभ भी शुद्ध के स्पर्श से है। अतः शुद्ध अर्थात् आध्यात्मिक विकास का आस्रव ही शुद्ध आत्म-तत्त्व है। यह शुद्ध आत्म-तत्त्व सर्व विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है अर्थात् यह शुद्ध आत्मद्रव्य न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्यों का केवल स्व स्व की पर्यायों से तादात्म्य है। यहाँ शुद्ध से तात्पर्य, पर से भिन्न व स्व के स्वभावमय से है। पर्याय व शक्ति भेद की गौणता करके अभेद स्वभाव की दृष्टि में वह संवेद्य है।

आत्मतत्व का व परद्रव्य का कोई संबंध नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य निज निज सत्तात्मक ही रहता है। इसी कारण आत्मा व परद्रव्य में कर्तृ-कर्म संबंध भी नहीं है। फिर आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता कैसे हो सकता है? और इसी कारण आत्मा परद्रव्य का भोक्ता भी कैसे हो सकता है? जिनके आशय में पर-द्रव्य का कर्तृत्व-भोक्तृत्व समाया हुआ है वह सब उनके अज्ञान भाव की महिमा है। जैसे दृष्टि (नेत्र) दृश्यमान पदार्थ से अत्यन्त भिन्न है। वह दृश्य वस्तु को न तो करती है और न भोगती है। केवल देखती मात्र है, क्योंकि यदि करे तो अग्नि को देखने से जल जाना चाहिये, यदि भोगे तो अग्नि को देखने से नेत्र तप्त व भस्म हो जाना चाहिये। इसी प्रकार ज्ञान भी एक दृष्टि ही तो है वह किसी परपदार्थ को न तो करता है और न भोगता है वह तो तत्वज्ञान के कारण पर पदार्थ को अहं व मम रूप से अनुभव नहीं कर सकने के कारण केवल जानता है, चाहे बंध हो, मोक्ष हो, उदय हो या कुछ हो। यहाँ यह निर्णय कर लेना आवश्यक है कि शुद्ध आत्मतत्व अथवा समयसार अभेद शुद्ध चैतन्य स्वभाव है। वह अनादि से अनन्त काल तक एक-स्वरूप है। यही वह सहज सिद्ध भाव है जिसका अवलंबन मोक्ष मार्ग है। यह तो बंध मोक्ष पर्याय से परे है। इस परम पारिमाणिक भाव स्वरूप समयसार का ध्यान, भावना, दृष्टि, आश्रय और अवलंबन मोक्षमार्ग है। जीव में यह अनादि सिद्ध भाव है, किन्तु इसकी दृष्टि बिना प्रकृति स्वभाव (रागादि भाव) में स्थित होकर विपरीताशय होकर यह अज्ञानी जीव कर्म का कर्ता व

कर्म फल का भोक्ता होता है। जब प्रकृति-स्वभाव में व आत्मा में भेद ज्ञान करता है। तब अकर्ता अभोक्ता हो जाता है।

स्याद्वादाधिकार

अब समस्या एक सुलझने को आ जाती है कि राग-द्वेषादिभावों का कर्त्ता कौन है? पुद्गलकर्म तो कर्त्ता नहीं है क्योंकि पुद्गलकर्म परद्रव्य है। परद्रव्य अन्य-पर के गुण पर्याय का न कर्ता है और न अधिकारी है। आत्मा भी राग-द्वेषादि का कर्त्ता नहीं, क्योंकि यदि आत्मा राग-द्वेषादि करे, तो आत्मा तो नित्य है फिर तो आत्मा रागादि का नित्य कर्त्ता हो जायेगा। अतश्च मोक्ष का अभाव हो जायेगा। रागादि के विषयभूत पदार्थ भी रागादि के कर्त्ता नहीं। इस प्रकार रागादि का कर्त्ता न तो आत्मा ही है और न कर्म ही है। फिर भी रागादि परिणमन तो होता है। इस समस्या को सुलझाने के अनेकों ने अनेक प्रयत्न किये हैं, किन्तु एक सन्धि नियत किये बिना यह समस्या नहीं सुलझती। वह सन्धि है निमित्त—नैमित्तिक भाव। अनित्य कर्मोदय को निमित्त पाकर अनित्य रागादि होते हैं। अनित्य रागादिक का निमित्त पाकर अनित्य कर्म बंध होता है। फिर बद्ध अनित्य कर्मोदय का निमित्त पाकर अनित्य रागादि होते हैं। यह परम्परा चलती रहती है, जब तक कि प्रखरभेद—विज्ञान न हो जाय। यहाँ बंध में निमित्त आत्म-विभाव है व उपादान-कार्माण-वर्गणा है तथा रागादि में निमित्त कर्मोदय है व उपादान-अध्यवसित आत्मा है। निमित्त-नैमित्त-नैमित्तिक भाव की इस सन्धि का होना अज्ञान की महिमा है और आत्मा का कर्ता भोक्ता बनना भी अज्ञान की महिमा है।

इस प्रकरण से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि आत्मा भिन्न वस्तु है और वृत्तियां सर्वथा भिन्न वस्तुतत्व हैं। क्योंकि ऐसा समझने से दो प्रकार की पृथक-पृथक विचारधारायें बहने लगती हैं। (१) आत्मा सर्वथा अविकार है। विकार तो किसी अन्य से है उसे कोई जीव कहते हैं, कोई मन कहते हैं अथवा विकार प्रकृति का कार्य कहते हैं। (२) आत्मा कोई एक है ही नहीं, ये वृत्तियाँ ही आत्मा हैं सो करने वाला और है और भोगने वाला और है।

इन पर विचार करना आवश्यक है। जीव का मन चेतन है या अचेतन ? यदि अचेतन है तो यही तो आत्मस्वरूप है, फिर तो आत्मा के नामान्तर ही हुए यदि चेतन है तो जानने, देखने और विचारने वाले पदार्थ को घबड़ाने अथवा कल्याण की क्या जरूरत ? प्रकृति नाम कर्म का है रागादि विकार यदि प्रकृति का कार्य है, तो 'कारण-सदृशं कार्यं'। इस न्याय से ये सब विकार अचेतन ही होना चाहिये। विकार में बुद्धि विचार सभी आ गए। यदि आत्मा प्रकृति में विकार करता है तो प्रकृति चेतन हो जायेगी। यदि आत्मा व प्रकृति दोनों मिलकर विकार करते हैं, तो उसका फल दोनों को भोगना चाहिये। यदि कहा जाय कि प्रकृति ही सर्व विकार करती हैं, तो आत्मा की परिणति बताओ क्या होगी ? परिणति बिना तो आत्मा का अभाव हो जायेगा और फिर प्रकृति ही कर्त्ता, प्रकृति ही मुक्ति हुई, तब समझदार व्यक्तियों को घबराने व कल्याण की क्या आवश्यकता ? इन सब का समाधान है पूर्वोक्त नैमित्तिक भाव की सन्धि। एक दृष्टि से देखा जाय तो चैतन्यभाव से अतिरिक्त जितने भाव हैं, वे परभाव कहे गये हैं।

क्रोध, मान, माया, लोभ, सुख-दुःख, विचार, कल्पना, संकल्प-विकल्प आदि सब औपाधिक भाव हैं। इनमें विचार बुद्धि जैसे भाव तो प्रकृति के क्षयोपशम से हैं। क्रोधादि-भाव प्रकृति के उदय से हैं। तब ये सभी भाव अचेतन हैं। चेतन तो एक शुद्ध चैतन्य है। अथवा जो भाव शुद्धचैतन्य को चेतते हैं वह हैं। नयदृष्टि से सभी चर्चाओं का विशुद्ध समाधान करना चाहिए। विवक्षावश प्रकृति कर्त्री है, आत्मा भोक्ता है, यह भी सिद्ध हो जाता है, किन्तु निमित्त-नैमित्तिकभाव का इसमें उल्लंघन नहीं होता। दूसरी चर्चा यह है कि वृत्तियाँ ही आत्मा हैं और वे अनेक हैं तो असत् का उपयोग हो जायेगा, तो सर्वथा असत् का उत्पाद होता ही नहीं। अतः आत्मा सब पर्यायों में वही है और उसकी पर्यायें भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न हैं। तब पर्याय-दृष्टि से जानो, करने वाला और पर्याय है भोगने वाला और पर्याय है। जैसे मनुष्य ने पुण्य किया, देव ने भोगा, परन्तु द्रव्यदृष्टि से देखो तो जिस आत्मा ने किया उसी आत्मा ने भोगा। यह ध्यान रखने की एक बात और है

कि आत्मा व जीव एकार्थ-वाचक नाम हैं। वे भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं—केवल रूढ़िवश व शब्द-विशेषता से कहीं-कहीं यह प्रसिद्धि हो गई कि आत्मा अविकारी है, जीव विकारी है, हाँ यदि आदि से अन्त तक सिलसिले में बोला जाय तो यह कहना चाहिए कि चेतनद्रव्य जब मिथ्यात्व-विकार से मुक्त होकर स्वरूप दृष्टि कर लेता है, तो वह आत्मा कहलाता है। यदि मिथ्यात्व विकार में स्थिर रहता है तो वह जीव कहलाता है निमित्त-नैमित्तिक भाव वाले पदार्थों में इतनी बात सुदृढ़ता से जानते रहना चाहिए, कि जैसे जीव में व कर्म में निमित्त नैमित्तिकता तो है किन्तु कोई किसी दूसरे में तन्मय नहीं हो जाता। इसी कारण जीव प्रकृतिबंध का कर्त्ता है, प्रकृति जीव विकार का कर्त्ता है। जीव प्रकृति फल को भोगता है। ये सब बातें व्यवहारनय से मानी जाती हैं। इसके लिए दो मुख्य दृष्टान्त हैं—(१) जैसे व्यवहारनय से कहा जाता है :— कि सुनार सुवर्ण का आभूषण बनाता है व आभूषण का फल (मूल्य वैभव) भोगता है, वस्तुतः सुनार अपनी चेष्टा ही करता है। (२) व्यवहारनय से कहा जाता है कि खड़िया ने भीत (दीवार) सफेद कर दी, खड़िया ने तो खड़िया को ही सफेद किया। हाँ, यह बात जरूर है कि दीवार का निमित्त पाकर खड़िया ऐसे विस्तार रूप में अपना परिणमन बना रही है। इस तरह से तो यहाँ तक निर्णय कर लो, कि आत्मा निश्चय से अपने को ही जानता है, देखता है। पर का जानना देखना कहना भी व्यवहारनय से है। व्यवहार-नय से तो कर्त्ता व कर्म भिन्न-भिन्न मान लिये जाते हैं। किन्तु निश्चय से कर्त्ता, कर्म एक ही वस्तु होता है और परम शुद्ध निश्चयनय में कर्म-कर्त्ता का भेद ही नहीं।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में परिणमन नहीं होता। अन्यथा द्रव्य सीमा ही नष्ट हो जायेगी। अब आत्मा जो दूसरे द्रव्य की ओर आकर्षित होता है, व रागी द्वेषी होता है वह अज्ञान की प्रेरणा है। यह राग-द्वेष तब तक रहता है, जब तक ज्ञान ज्ञानरूप से न रहे, किन्तु ज्ञेयार्थ परिणमन करता रहे। कोई भी ज्ञेय आत्मा को प्रेरित नहीं करते कि तुम हमको जानो, देखो, स्वादो, छूओ, सुनो, सूँघो और आत्मा भी स्वप्रदेश से च्युत होकर उनमें प्रवेश कर जानना

आदि का कार्य नहीं करता, किन्तु ज्ञान अपने परिणमन से जानता है। बाह्य पदार्थ का आत्मा में सम्बन्ध नहीं फिर भी आत्मा में विकार आवे तो वह अज्ञान की महिमा है।

इन सब आपत्तियों से बचने का उपाय प्रज्ञा है। प्रज्ञाबल से अनुभव करे कि मैं कर्मविपाक, रोगादि समस्त अज्ञान भावों से परे हूं, शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ। इस अनुभव के बल से चूँकि शुद्धज्ञान की संचेतना हो रही है, अतः पूर्वबद्ध कर्म निष्फल हो जाता है, आगामी कर्मबंध रुक जाता है और वर्तमान कर्मविपाक भी बिना वेदे निकल जाता है। ज्ञानी जीव के अज्ञान चेतना नहीं है, वह ज्ञान-क्रिया से अतिरिक्त अन्य को मैं करता हूँ ऐसी संचेतना रूप कर्म-चेतना नहीं करता और ज्ञान क्रिया से अतिरिक्त अन्य भावों को मैं भोगता हूं ऐसी संचेतना रूप कर्मफल-चेतना भी नहीं करता।

ज्ञानचेतना ही मोक्ष का कारण है। ज्ञान के शरीर नहीं है इसलिए शरीर की प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप कुछ भी भूषा मोक्ष का कारण नहीं है। हाँ यह बात अवश्य है कि ज्ञानचेतना के उपयोग वाले जीव को इतनी प्रबल ज्ञानाराधना की रुचि होती है, कि रागभाव गए, अब बाह्य में परिग्रह को कौन संभाले। सो देह का निर्ग्रंथ निष्परिग्रह वेष हो जाता है। फिर भी ज्ञानचेतना ही मोक्ष का कारण है, क्योंकि वह आत्माश्रित है। देहलिंग मोक्ष का कारण नहीं, क्योंकि वह पराश्रित है। इसलिए निष्परिग्रह निर्ग्रन्थस्वरूप द्रव्यलिंग से गुजर कर भी देहलिंग की ममता से दूर रहकर एक समयसार का ही अनुभव करना चाहिए। जो समयसार में स्थित होता है वही सहज उत्तम आनन्द को प्राप्त करता है।

स्याद्वाद (परिशिष्ट) अधिकार

यह अधिकार पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरि व पूज्य श्री जयसेनाचार्य ने स्वतन्त्र रचना द्वारा प्रकट किया है। चूंकि वस्तु की सिद्धि स्याद्वाद से होती है, अतः ज्ञानमात्र दृष्टि से देखे गये ज्ञानमात्र आत्मा को स्याद्वाद से प्रसिद्ध करके उसका उपयोग करना चाहिए। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होने के

कारण प्रतिक्षण परिणमता ही रहता है। सो यह ज्ञानमात्र आत्मद्रव्य भी प्रति समय परिणमता रहता है। अब इस ही प्रसंग में ज्ञानमात्र आत्मा दो दृष्टियों से देखा जा रहा है—(१) ज्ञानशक्ति द्वार से निश्चयनय द्वारा, (२) ज्ञानपरिणमन (ज्ञेयाकार) द्वार से व्यवहारनय द्वारा। पदार्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल भावात्मक होता है। इस कारण सत्त्व का विचार द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव इन चार दृष्टियों से भी होता है। इस प्रकार दो मौलिक संकेतों के बाद अब ज्ञानमात्र आत्मा को जिन धर्मों के द्वार से प्रसिद्ध करना है उन्हें कहते हैं– (१) आत्मा तद्रूप है, (२) आत्मा अतद्रूप है, (३) आत्मा एक है, (४) आत्मा अनेक है, (५) आत्मा द्रव्यतः सत् है, (६) आत्मा द्रव्यतः असत् है, (७) आत्मा क्षेत्रतः सत् है, (८) आत्मा क्षेत्रतः असत् है, (९) आत्मा कालतः सत् है, (१०) आत्मा कालतः असत् है, (११) आत्मा भावतः सत् है, (१२) आत्मा भावतः असत् है, (१३) आत्मा नित्य है, (१४) आत्मा अनित्य है, (१५) आत्मा अभेदात्मक है, (१६) आत्मा भेदात्मक है।

(१-२) आत्मा ज्ञानशक्ति से तद्रूप है व ज्ञेयाकार परिणमन से अतद्रूप है, क्योंकि ज्ञेयाकार परिणमन व्यतिरेकी परिणमन है, अथवा ज्ञानमात्र आत्मा स्ववस्तु रूप से तद्रूप है व परवस्तु रूप से अतद्रूप है। मैं ज्ञायकता से भी शून्य हूँ, ऐसा अथवा सर्व वस्तुओं से भी तद्रूप हूं ऐसा नहीं मानना।

(३-४) ज्ञानमात्र आत्मा अखंड एक ज्ञानस्वभाव की अपेक्षा एक है, वह ज्ञेयाकार पर्यायों अनेका अनेक है, ज्ञेयाकार मुझ में नहीं है ऐसा यह ज्ञेयाकार मात्र हूँ, ऐसा नहीं मानना।

(५-६) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञातद्रव्य की अपेक्षा से सत् है वह ज्ञेयाकार पर्यायों अपेक्षा असत् है अथवा ज्ञाता द्रव्य की अपेक्षा सत् है, वह ज्ञायमान परद्रव्य की अपेक्षा असत् है। ज्ञाता द्रव्य ही द्रव्य रूप है व पर द्रव्य सब ही मैं हूं ऐसा नहीं मानना।

(७-८) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानाकारक्षेत्र से असत् है, अथवा स्वक्षेत्र से सत् है व ज्ञेयभूत परवस्तु के क्षेत्र से असत् है। पर क्षेत्र से असत् है। पर क्षेत्रगत ज्ञेयार्थ परिणमन से ही मैं हूं, ऐसा व ज्ञेयाकार का मुझमें सर्वथा त्याग है ऐसा नहीं मानना।

(९-१०) ज्ञानमात्र आत्मा काल-पर्याय सामान्य से सत् है व काल-विशेष से असत् है अथवा स्वपर्याय से सत् है, अथवा पर पर्याय से असत् है, पदार्थों के अलम्बन काल में ही सत् है व आलम्बित अर्थ के विनाशकाल में विनाश है, ऐसा नहीं मानना।

(११-१२) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञायकभाव से सत् है, ज्ञेयभाव से असत् है अथवा अपने गुण से सत् है परके गुण से असत् है। सब ही (स्व पर) भाव में मैं हूं, या मैं ही सब भाव हूं, ऐसा नहीं मानना।

(१३-१४) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानशक्ति की अपेक्षा नित्य है, ज्ञेयाकार विशेष पर्याय की अपेक्षा अनित्य है ।ज्ञानमात्र आत्मा को सर्वथा नित्य या अनित्य नहीं मानना।

(१५-१६) ज्ञान मात्र आत्मा द्रव्यदृष्टि से अभेदात्मक है, व्यवहार दृष्टि से भेदात्मक है।

अनेकान्त स्वरूप होकर भी आत्मा की ज्ञानमात्र प्रसिद्धि क्यों की? लक्ष्यभूत आत्मा की सुगमता प्रसिद्धि के लिए अथवा ज्ञानमात्र एक भाव में ही गर्भित अनन्त शक्तियों का विकास प्रकट होने से ज्ञानमात्रपने की मुख्यता से आत्मा लक्ष्य हो जाता है, इसलिए ज्ञानमात्र आत्मा की प्रसिद्धि की। ज्ञानमात्र होकर भी अनेकान्तरूप क्यों बताया? विशद जानने के लिए, अथवा भेद रत्नत्रय व अभेद रत्नत्रय के उपदेश के लिये अथवा उपाय-उपेयभाव का चिन्तवन करने के लिये ज्ञानमात्र आत्मा को अनेकान्त रूप प्रकट किया।

इस प्रकार निज शुद्ध आत्मतत्व स्वरूप समयसार की प्रतीति करके उसमें ही अनुष्ठान करना चाहिए। एतदर्थ परमार्थ दृष्टि रखकर भावना करनी चाहिए—मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव हूँ, निर्विकल्प हूं, अखंड हूँ, निरंजन सहजानन्द स्वरूप स्वसंवेदन से गम्य हूँ, राग-द्वेष-विषय कषायादि से रहित हूँ।

समयसार के परिज्ञान का प्रयोजन

समयसार निरपेक्ष आत्म-स्वभाव है। इसका अपरनाम सहजसिद्ध परमात्मा

है। इस अविकार स्वरूप की दृष्टि होने पर परिणमन में भी अविकारता प्रकट होती है। अविकारता ही सत्य आनन्द की अमोघ जननी है। समस्त दार्शनिकों के प्रयोजन की सिद्धि इस समयसार के परिचय में हो जाती है। समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व अविकार है, नित्य है, भेद दृष्टि से परे होने के कारण एक है। आत्म-गुणों में व्यापक होने से व आत्म-गुणों से बढ़ने के कारण ब्रह्म है। ऐसा स्वभाव होते हुए भी चूंकि प्रत्येक द्रव्य परिणमन शील है सो आत्मा भी परिणमनशील है। अतः इस आत्मा की पर्यायें होती हैं। वे पर्यायें अनित्य हैं। अतः माया रूप कही जाती हैं। इस तरह ब्रह्म और माया की सन्धि है। अविकार होते हुए भी यह माया का आधार है। यह रहस्य जिन्हें प्रगट हो गया वे विवेकी हैं और फिर माया की दृष्टि न रख कर एक परम ब्रह्म की दृष्टि रखते हैं वे परमविवेकी हैं। समयसार के परिज्ञान का प्रयोजन निर्विकल्प समाधि की सिद्धि है। जिसके बल से समस्त कर्म-कलंकों में मुक्ति, पूर्ण ज्ञान की सिद्धि व अनन्त आनन्द की निष्पत्ति होती है।

समयसार के दार्शनिक संतोष

प्रत्येक आत्मा में समयसार तत्त्व है। इसे परम ब्रह्म परमेश्वर कहते हैं। इसकी पर्यायों का मूल आधार यह ही है। इस प्रकार प्रत्येक आत्माओं की सृष्टि का कारण उन्हीं में विराजमान परम-ब्रह्म परमेश्वर है। शुद्ध नय की दृष्टि में अनेकता नहीं है। अतः इस पद्धति में यह अभिप्राय सुयुक्तियुक्त है कि जिस परमब्रह्म परमेश्वर ने अपनी सृष्टि की है, उस परम पिता की उपासना से ही दुःखों की मुक्ति हो सकती है। समयसार में उपासना बगैर दुःखों से मुक्ति नहीं हो सकती।

स्वभावतः अविकार होकर भी प्रकृतिजन्य वैभवों में एकत्व का अभ्यास होने से नाना भावों के अवतार रूपों में यह समयसार पुरुष प्रकट हुआ है। प्रकृति (कर्म व औपाधिक भाव) व पुरुष का जब तक भेदज्ञान नहीं होता तब तक क्लेश व जन्म-परम्परा चलती ही रहती है। अतः यह बात सुयुक्त है कि प्रकृति व पुरुष का भेदविज्ञान कर लेने से ही क्लेश एवं जन्म-परम्परा से मुक्ति हो सकती है।

समयसार स्वरूप आत्मद्रव्य नित्य होने पर भी इसकी परिणतियाँ प्रतिक्षण होती ही रहती हैं। आत्मा का मुख्य लक्षण ज्ञान है। ज्ञान स्वभाव की परिणतियाँ प्रतिक्षण होती रहती हैं। हम लोगो की ज्ञान पणितियों का नाम चित्तवृत्ति है। यह चित्तवृत्तियाँ क्षणिक हैं। ये आत्मस्वरूप नहीं हैं। आत्मद्रव्य की क्षणिक परिणतियाँ हैं। उन्हें ही जो आत्मद्रव्य समझते हैं वे इष्ट अनिष्ट कल्पना द्वारा रागी-द्वेषी होकर दुःखी होते हैं। जो चित्तवृत्तियों को गौण कर इस अविकार समयसार (शुद्ध आत्मतत्त्व) को कहते हैं, वे दुःखों से मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त करते हैं। अतः यह बात सुयुक्त है कि क्षणिक चित्तवृत्तियों में आत्मा का भ्रम समाप्त कर देने से ही निर्वाण प्राप्त हो सकता।

परम-शुद्ध निश्चय से देखा गया समयसार तत्व शाश्वत अविकार है। इस तत्व को विकारी रूप में उपलब्धि करने की जब तक प्रकृति रहती है तब तक जीव दुखी है। जब निरपेक्ष निज चैतन्य स्वभाव की द्रव्य शुद्धि में उपलब्धि कर विकार भ्रम को समाप्त कर देता है तब आत्मा शांति का अनुभव करता है। अतः यह निश्चित है कि विकारों से सम्बन्ध न होने से जीव शांति प्राप्त कर सकता है।

समयसार की उपलब्धि न होने के कारण जीव का उपयोग विरुद्ध कर्मों (दुष्कर्मों) में भ्रमण करता रहता है और इन्हीं दुष्कर्मों से ही जीव सांसारिक यातनाएं सहता है। उनसे मुक्ति पाने का उपाय समयसार की दृष्टि है और यही निश्चयतः सत्कर्म है तथा जब तक जीव समयसार की निश्चल अनुभूति में नहीं रह पाता, तब तक इस अशान्ति का उपयोग दुष्कर्म न उठा लें। इसलिये दुष्कर्म के बचने के अभिप्राय से व्यवहारिक सत्कर्म की प्रवृत्ति होती है। अतः यह बात संयुक्त है कि सांसारिक यातनाओं के कारणभूत दुष्कर्मों से मुक्ति पाना सत्कर्म से ही सम्भव है।

निर्विकल्प समयसार का परिचय जब तक जीव को नहीं है, वह विविध विकल्पों में ही उपयुक्त रहकर संसार का परिभ्रमण करता रहता है। विकल्पो से होने वाली भटकन की निवृत्ति निर्विकल्प ज्ञान परिणमन से ही सम्भव है। अतः यह बात भी सुयुक्तिक है कि संसार-परिभ्रमण की निवृत्ति निर्विकल्प

समाधि से ही हो सकती है। निर्विकल्प समाधि समयसार के आलम्बन में होती है।

इस प्रकार अनेकों दार्शनिक इस समयसार में ही संतोष पाते हैं। उनके उद्देश्य की पूर्णता भी इसी समयसार में होती है। हे आत्मन्! ऐसा अद्भुत विलक्षण, अलौकिक सारभूत परमब्रह्मस्वरूप समयसार हस्तगत हुआ है, हाथ आया है तो इसकी अनवरत दृष्टि रखकर निर्दोष होते हुए तुम सहज आनन्द का अनुभव करो।

ॐ शुद्धं चिदस्मि! "शुद्धचिदस्मि सहजं परमात्म तत्त्वम्।"

समयसार की महिमा अपूर्व है। इसका वर्णन तो किया ही नहीं जा सकता। इसके शुद्ध अनुभव में ही महिमा की अनुभूति होती है। जिसका परिणमन समयसार के पूर्ण अविरुद्ध हो गया है अर्थात् समस्त आत्म-गुणों का पूर्ण शुद्ध विकास हो गया है, ऐसे देवाधिदेव परमात्मा को और जो आत्म-गुणों के शुद्ध विकास में चल रहे हैं ऐसे गुरुओं को नमस्कार करता हूँ, अर्थात् सर्वपरमेष्ठियों को नमस्कार करता हूँ जिनके स्वरूपचिन्तन व परम्परा प्राप्त उपकारों से मैं धर्ममार्ग में उपकृत हुआ हूं।

समयसार ग्रन्थ के मूल रचयिता पूज्य श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्य को नमस्कार करता हूं। समयसार गाथाओं के हार्द को आत्मख्याति टीका द्वारा व्यक्त करने वाले पूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरि को नमस्कार करता हूं। समयसार गाथाओं के शब्दानुसार भाव एवं तात्पर्य को तात्पर्यवृत्ति द्वारा व्यक्त करने वाले पूज्य श्रीमज्जयसेनाचार्य को नमस्कार करता हूं। जिनकी रचनाओं के आधार पर शान्ति मार्ग-प्रत्यय हुआ। अतः गृहवास छोड़कर व्रत-प्रतिमा ग्रहण करने के अन्तर ही सन् १९४३ में आत्मशान्ति के मार्ग पर चलने का अधिक भाव हुआ। उस समय समयसार के मनन करने का परिणाम हुआ। उन शीत ऋतुओं के दिनों में त्रिलोकसार व कर्मकाण्ड के विशेष ज्ञान-अनुसंधान में लग रहा था। अतः समयसार के मनन का समय ४ बजे प्रातः से लेकर ६ बजे तक का था। समयसार ग्रन्थ के देखने का यह पहिला ही अवसर था। आत्म-ख्याति टीका के आधार पर मनन शुरू किया। उनमें जो बीच-बीच में कहीं कठिनाइयां आती थीं, उनका हल श्री पं० जयचन्द जी छाबड़ा कृत

हिन्दी टीका से ही जाया करता था। इस प्रकार यह हिन्दी टीका भी मुझे बहुत ही सहायक रही। मैं श्री पं० जयचन्द जी छाबड़ा का विशेष आभार मानता हूँ।

पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य का तो मैं अत्यन्त आभारी हूं जिनके तत्त्वावधान में बाल्यकाल से ही न्यायतीर्थ परीक्षापर्यन्त मेरा अध्ययन रहा और न्याय विषय को स्वयं आपने पढ़ाया। अध्ययन के अतिरिक्त आत्म-विकास मार्ग में चलने के लिए आपसे ही दीक्षा प्राप्त हुई।

ॐ शान्तिः　　ॐ शान्तिः　　ॐ शान्तिः

मनोहर वर्णी
(सहजानन्द)

२१ दिसम्बर १९५८

मंगल-तन्त्र

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि।

मैं ज्ञानमात्र हूँ, मेरे स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं, अतः निर्भार हूँ।
मैं ज्ञानघन हूँ, मेरे स्वरूपमें अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूँ।
मैं सहज आनंदमय हूँ, मेरे स्वरूपमें कष्ट नहीं, अतः स्वयं तृप्त हूँ।

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि।

आत्म-रमण

मैं सहजानंदस्वरूपी हूँ मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, ॥टेक॥
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनंदधाम, मैं सहजा०, मैं दर्शन० ॥१॥
हूँ खुदका ही कर्ता भोक्ता, परमें मेरा कुछ काम नहीं।
परका न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं सहजा०, मैं दर्शन० ॥२॥
आऊं उतरूं रम लूं निजमें, निजकी निजमें दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रससे सहज तृप्त, मैं सहजा०, मैं दर्शन० ॥३॥